वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक ज्योति
वर्ष ४९ अंक ७
जुलाई २०११
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ७

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २२,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

पुरखों की थाती

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम् ।
अमृतं भोजनार्थे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम् ।। ५८।।

– पाचन ठीक न हो तो जल दवा के समान है, पाचन ठीक हो तो जल बलवर्धक है, भोजन के साथ पीया हुआ जल अमृत है और भोजन के बाद पीया गया जल विषवत् हानिकर है।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति ।।५९।।

– सर्वथा अज्ञानी व्यक्ति को सहज ही समझाया जा सकता है, विद्वान् को तो और भी अधिक सरलता से समझाया जा सकता है, परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़े-से ज्ञान से ही अहंकार हो गया है, उसे तो ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते।

अनागत-विधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ।।६०।।

– अनागत-विधाता (आपत्ति आने के पहले ही उपाय सोचने वाले) और प्रत्युत्पन्न-मति (समयानुसार बुद्धि से काम लेने वाले) – ये दोनों ही सुख से रहते हैं, परन्तु यद्भविष्य (जो होगा देखा जाएगा – ऐसा सोचनेवाला) नष्ट हो जाता है।

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ।।६१।

– शास्त्र सबके लिए एक ऐसा नेत्र है, जो अनेकों सन्देहों का नाश करता है और भविष्य में होनेवाले हानि-लाभ को बताता है, जिसके पास वह नहीं है, वह मानो अन्धा ही है।

अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः ।
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधारणक्षमः ।।६२।।

– पृथ्वी पर ऐसे असंख्य सर्प होते हैं, जो मेढकों को खाने में तत्पर रहते हैं; एकमात्र शेषनाग ही ऐसे हैं, जो पृथ्वी को सिर पर धारण करते हैं। अर्थात् दुनिया के अधिकांश लोग अपने स्वार्थ-साधन में ही रत हैं, परन्तु कोई-कोई महापुरुष पृथ्वी के लोगों का भार हल्का करने में समर्थ हैं।

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः ।।६३।।

– रोगी का निर्दिष्ट भोजन यदि कड़वा हो, तो भी उसका फल सुखदायी होता है। जहाँ ऐसे अप्रिय बातों को कहने तथा सुननेवाले रहते हैं, वहाँ सारी सम्पदाएँ विराजमान रहती हैं।

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
तस्य देहाद्-विमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ।।६४।।

– जो दयालु मनुष्य सभी प्राणियों को अभयदान देता है, उस देह से मुक्त व्यक्ति को कभी किसी से भय नहीं होता।

अर्थाः पाद-रजोपमा गिरि-नदी-वेगोपमं यौवनं
आयुष्यं जल-लोल-बिन्दु-चपलं फेनोपमं जीवनम् ।
धर्मं यो न करोति निन्दित-मतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरा-परिगतिः शोकाग्निना दह्यते ।।६५।।

– धन पैर की धूलि के समान है, जवानी पहाड़ी नदी के वेग की भाँति है, आयु जल की चंचल बूँदों की तरह है और जीवन फेन के सदृश है। ऐसी स्थिति में जो क्षुद्रबुद्धि मनुष्य स्वर्ग का द्वार खोलनेवाला धर्म-कर्म नहीं करता, वह बुढ़ापा आने पर पछताता हुआ शोकरूपी अग्नि में सुलगता रहता है।

अलब्धं चैव लिप्सेत् लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।
रक्षितं वर्धयेत् सम्यग् वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ।।६६।।

– जो नहीं मिला है, उसे पाने की इच्छा करे। जो मिल चुका है, उसे नष्ट होने से बचावे; बचे हुए धन को बढ़ावे और बढ़े हुए धन को भले कार्यों में लगाना चाहिए। ❖ **(क्रमशः)** ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(शिवरंजनी–कहरवा)

ठाकुर, तुम समान हितकारी,
नहीं मिला कोई भी मुझको, देखी दुनिया सारी ।।

जनम-जनम का मैं दुखियारा, भटक रहा था मारा-मारा,
कृपा अकारण कर हर लीन्ही, मेरी बिपदा भारी ।।

भव-बन्धन से मुझे छुड़ाया, चित में भाव-भक्ति उपजाया,
करुणासिन्धु पतितपावन प्रभु, जाऊँ मैं बलिहारी ।।

चरणों में अर्पित जीवन हो, नित्य तुम्हारा स्मरण मनन हो,
अब 'विदेह' को दूर न रखना, इतनी अरज हमारी ।।

– २ –

(पहाड़ी या यमन–कहरवा)

आए रामकृष्ण भगवान ।
मुक्त करों से दिये जा रहे, अभिनव जीवन दान ।।

उदित हुआ है रवि प्राची में,
जाग रही चेतना सभी में,
दीर्घ निशा के बाद हो रहा, मधुमय सुखद बिहान ।।

मार्ग दिखाया लोकालय को,
दूर किया भवभय-संशय को,
जीवन का चिर लक्ष्य बताया, ईश्वर का सन्धान ।।

लीला-ज्ञान अलौकिक अनुपम,
करता दूर मोह-माया-भ्रम,
जिनके आलोकित होने से, भौतिकता है म्लान ।।

किया वहन सन्देश अलौकिक,
गये विवेकानन्द चतुर्दिक,
आत्मबोध की आभा पाकर, मोहित सकल जहान ।।

दूर हो रहे द्वेष-द्वन्द्व सब,
फैल रही सर्वत्र शान्ति अब,
धर्म-कला-जीवन से जुड़कर, पुष्ट हुआ विज्ञान ।।

– 'विदेह'

धर्मावतार श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

कालवश सदाचार-भ्रष्ट, वैराग्यहीन, केवल लोकाचारों में निष्ठा रखनेवाले, क्षीणबुद्धि आर्यों के वंशज, ... विशेष भावों की शिक्षा के लिए निर्मित आपातविरोधी दिखनेवाले एवं अल्पबुद्धि लोगों के लिए विस्तृत भाषा में स्थूल रूप से वेदान्त के सूक्ष्म तत्त्वों का प्रचार करनेवाले पुराणों आदि में वर्णित भावों को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो गये; और इसके फल-स्वरूप, जब उन लोगों (आर्य-सन्तानों) ने अनन्त भावों की समष्टि – अखण्ड सनातन धर्म को अनेक खण्डों में विभाजित करके, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की ज्वाला को प्रज्वलित करके, उसमें एक-दूसरे की आहुति देने की सतत चेष्टा करते हुए इस धर्मभूमि भारत को लगभग नरकभूमि में परिणत कर दिया – उसी समय, आर्य जाति का सच्चा धर्म क्या है और सतत विवाद का कारण, ऊपरी तौर से अनेकशः विभक्त सर्वथा विरोधाभासी आचारयुक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रम तथा विदेशियों के घृणा का पात्र 'हिन्दू-धर्म' नामक युगों से चले आ रहे, विखण्डित तथा देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए समस्त धर्मखण्डों के बीच वास्तविक एकता कहाँ है – यह दिखाने के लिए – और कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक स्वरूप अपने जीवन में धारण कर, संसार के सम्मुख अपने को सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के हेतु भगवान रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

शास्त्र, जो सृष्टि-स्थिति तथा लयकर्ता (परमेश्वर) के अनादि काल के सहयोगी हैं, कैसे संस्काररहित ऋषि-हृदय में प्रकट होते हैं, यह दिखाने के लिए और इसलिए कि इस प्रकार शास्त्रों के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनःस्थापन और पुनःप्रचार होगा, वेदमूर्ति भगवान ने अपने इस नूतन रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः पूर्ण रूप से उपेक्षा की है। ...

अतः इस जागरण की समुज्ज्वल कान्ति के सम्मुख पूर्व युगों के समस्त उत्थान वैसे ही महिमाहीन दिखाई देंगे, जैसे कि सूर्य के प्रकाश के तारेगण दिखायी देते हैं। ...

इसीलिए इस महायुग के प्रभात में सभी भावों के समन्वय का प्रचार हो रहा है और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जनसमाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नवीन युगधर्म सारे जगत् और विशेषकर भारत के लिए, परम कल्याणकारी है; और इस नवीन युगधर्म के प्रवर्तक भगवान श्रीरामकृष्ण पूर्व के युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनः संस्कृत प्रकाश-स्वरूप हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।[१]

धर्म के हर नयी तरंग के लिए एक केन्द्र की जरूरत होती है। पुराने धर्म को केवल एक नया केन्द्र ही पुनरुज्जीवित कर सकता है। अपनी रूढ़ियों व पुराने सिद्धान्तों को सूली पर चढ़ा दो, उनसे कोई लाभ नहीं होगा। एक चरित्र, एक जीवन, एक केन्द्र, एक ईश्वरीय व्यक्ति ही मार्गदर्शन करेंगे। इसी केन्द्र के चारों ओर अन्य सभी उपादान एकत्र हो जायेंगे तथा एक प्रलयंकर महातरंग की तरह समाज पर जा गिरेंगे तथा सबको बहाकर ले जाते हुए उनकी अपवित्रताओं का भी नाश करेंगे। फिर, जैसे लकड़ी को उसके रेशे की दिशा में ही चीरने में आसानी होती है, वैसे ही पुराने हिन्दू धर्म का संस्कार हिन्दू धर्म से ही हो सकता है, नये-नये सुधार-आन्दोलनों के द्वारा नहीं। साथ ही इन सुधारकों को अपने में पूर्व एवं पश्चिम, दोनों संस्कृतियों का मिलन कराना होगा। क्या आपको नहीं लगता कि आपने ऐसे महान् आन्दोलन के केन्द्र को प्रत्यक्ष देखा है? उस बढ़ते हुए प्लावन की अस्पष्ट गम्भीर गर्जना को सुना है? उस केन्द्र – उस मार्गदर्शक देवमानव का जन्म भारत में ही हुआ। वे थे महान् श्रीरामकृष्ण परमहंस।[२]

एक (शंकराचार्य) का था अद्भुत मस्तिष्क और दूसरे (रामानुजाचार्य) का था विशाल हृदय। अब एक ऐसे अद्भुत पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमें ऐसा ही

हृदय और मस्तिष्क – दोनों एक साथ विद्यमान हों; जो एक साथ ही शंकर के प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क तथा चैतन्यदेव के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का अधिकारी हो; जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से परिचालित हो रहे हैं और हर प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत अथवा अन्यत्र के निर्धन, दुर्बल, पतित सबके लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत अथवा भारतेत्तर देशों के सभी विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो; और इस अद्भुत समन्वय के द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे। एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षों तक उनके चरणों तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया।[३]

जब भारतवर्ष में बहुत से नये सुधारों की चेष्टा हो रही थी, उन्हीं दिनों १८ फरवरी १८३६ ई. को बंगाल के एक सुदूर गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण दम्पत्ति को एक शिशु पैदा हुआ। शिशु के माता-पिता दोनों ही शास्त्र-मार्गावलम्बी तथा धर्मपरायण थे।... यद्यपि वे बहुत गरीब थे, तथापि मेरे गुरुदेव की माता अक्सर किसी गरीब की सहायता करने के लिए स्वयं दिन भर भूखी रह जाती थीं। ऐसे माता-पिता के घर में इस शिशु ने जन्म लिया और बचपन से ही वह कुछ विलक्षण-सा था। उसे जन्म से ही अपने पूर्वजन्म का स्मरण था तथा वह भलीभाँति जानता था कि उसने इस संसार में किस उद्देश्य से जन्म लिया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी।

बालक जब बिल्कुल छोटा था, तभी उसके पिता का देहान्त हो गया और वह लड़का फिर पाठशाला भेजा गया। ... (उसने एक सभा में पण्डितों को विवाद करते देखा और) इस विवाद से उसने यह सार निकाला कि यह वाद-विवाद इनके कोरे पुस्तकीय ज्ञान का फल है। ये सब इतनी बुरी तरह से क्यों लड़ रहे हैं? यह केवल धन के लिए ही है, क्योंकि जो मनुष्य यहाँ अपनी विद्वत्ता सबसे अधिक दिखा सकेगा, वही वस्त्रों की सबसे अच्छी जोड़ी पायेगा और यही ध्येय है, जिसके लिए ये लोग लड़ रहे हैं। अत: उसने सोचा कि अब मैं पाठशाला बिल्कुल नहीं जाऊँगा और सचमुच वह नहीं गया और यही उसके पाठशाला के जीवन का अन्त था परन्तु इस बालक का एक बड़ा भाई भी था, जो बड़ा विद्वान् था। बड़ा भाई इस बालक को अपने साथ पढ़ाने के लिए कलकत्ता ले गया। कुछ काल बाद बालक को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का ध्येय अधिकाधिक धन कमाने के अलावा और कुछ नहीं है; और उसने इस प्रकार की शिक्षा को छोड़ देने तथा अपने को केवल आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन-मन से लगा देने का निश्चय किया। पिता के मर जाने से परिवार बहुत गरीब हो गया था और इस बालक को अपनी जीविका का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। वह कलकत्ते के पास एक जगह गया और वहाँ एक मन्दिर का पुजारी हो गया। ...

यह बालक जिस मन्दिर में पूजा करता था, उसमें आनन्दमयी जगदम्बा की एक मूर्ति थी। इस बालक को सायं-प्रात: पूजा करनी पड़ती थी और धीरे-धीरे उसके मन में इस विचार ने अधिकार जमा लिया कि "क्या इस मूर्ति में सचमुच किसी का निवास है? क्या यह सत्य है कि इस संसार में आनन्दमयी जगदम्बा हैं? क्या सह सत्य है कि वे ही इस विश्व का सारा व्यवहार चलाती हैं? या फिर यह सब स्वप्नवत् ही है? क्या धर्म में सचमुच ही कोई सत्यता है?"

यही भाव उस बालक के मन में समा गया और उसने अपना सारा जीवन इसी भावना पर केन्द्रीभूत कर दिया। दिन पर दिन वह रोता और कहता, "हे जगदम्बे ! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है अथवा यह सब कविता मात्र है? आनन्दमयी माता वास्तव में है या केवल कवियों की कपोल -कल्पना तथा भटके हुए लोगों का भ्रम ही है? हम यह देख चुके हैं कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं अथवा हम जिन पुस्तकों को पढ़ते हैं, उन सबका ज्ञान इस बालक को नहीं था। इस बालक का सहज मन सरल तथा निष्पाप था। उसकी विचार-शैली भी बड़ी पवित्र थी और इसका कारण यह था कि दूसरे के विचारों का प्रभाव उसके मन पर नहीं पड़ा था।... 'क्या ईश्वर देखा जा सकता है' यह विचार, जो उनके मन में सबसे प्रबल था, धीरे-धीरे और भी दृढ़ हो गया। यहाँ तक कि वे और किसी बात के बारे में सोच न पाते, यहाँ तक कि वे ठीक तौर से पूजा भी न कर पाते और उससे सम्बन्धित कई विधियों पर भी ध्यान न दे पाते। बहुधा वे जगदम्बा की मूर्ति के सम्मुख नैवेद्य रखना भी भूल जाते थे और कभी-कभी घण्टों आरती ही उतारा करते थे तथा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ उन्हें विस्मृत हो जाता था !

सारे समय यह एक ही विचार उनके मन में बना रहता, "हे माँ ! क्या वह यह सत्य है कि तेरा अस्तित्व है? फिर तू बोलती क्यों नहीं? क्या तू मर गयी है?"... अन्त में उस बालक के लिए उस मन्दिर में काम करना असम्भव हो गया। उसने वह मन्दिर छोड़ दिया और पास के एक छोटे-से जंगल में चला गया और वहीं रहने लगा। अपने जीवन की उस अवस्था के बारे में मेरे गुरुदेव ने मुझसे कई बार चर्चा की थी और वे यह भी कहते थे कि उन्हें यही ज्ञात नहीं रहता था कि कब सूर्योदय और कब सूर्यास्त हो गया। इसी प्रकार वे वहाँ रहे। वे अपने स्वयं के बारे में सब विचार भूल गये थे, यहाँ तक कि भोजन करने का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता था। इस समय उनके एक सम्बन्धी ने बड़े प्रेमपूर्वक

उनकी देखभाल की और वह उनके मुँह में भोजन डाल दिया करता था, जो वे केवल निगल लेते थे।

इसी प्रकार इस बालक के कितने ही दिन-रात बीत गये। जब एक पूरा दिन बीत जाता और सन्ध्या के समय मन्दिरों से घण्टों की झंकार तथा भजनों की गूँज इस बालक को वन में सुनायी देती थी, तो वह बड़ा दुखी होकर रुदन करते हुए चिल्लाकर कहने लगता, "हे माता ! आज का दिन भी व्यर्थ चला गया और तूने दर्शन नहीं दिया – इस छोटे से जीवन का एक दिन और व्यतीत हो गया; परन्तु फिर भी मुझे सत्य की प्राप्ति नहीं हुई।" मनोव्यथा के कारण वे कभी अपना मुँह जमीन पर रगड़ डालते और उनके बिलखते मुँह से यह प्रार्थना निकल पड़ती, "हे जगदम्बे ! तू शीघ्र प्रकट हो जा – देख, मैं तेरे लिए कैसा तड़प रहा हूँ – मुझे और कुछ नहीं चाहिए।" वास्तव में वे अपने ध्येय में एकनिष्ठ थे।

उन्होंने सुना कि जब तक जगदम्बा के लिए सर्वस्व का त्याग नहीं किया जाता, तब तक वे दर्शन नहीं देतीं। वे यह भी जानते थे कि जगदम्बा सभी को दर्शन देना चाहती हैं, परन्तु लोग स्वयं ही दर्शन नहीं चाहते – लोग माँ को नहीं, बल्कि पूजा के लिए अन्य सब प्रकार की मूर्खतापूर्ण मूर्तियाँ तो चाहते हैं और अपने आनन्द-भोग के इच्छुक होते हैं, किन्तु जिस क्षण वे अन्य सब कुछ छोड़कर तन-मन से माँ के लिए छटपटायेंगे, बस, उसी क्षण जगदम्बा उन्हें अवश्य दर्शन देंगी। अत: वे उसी भावना में तल्लीन होने का प्रयत्न करने लगे और उन्होंने अपने इष्ट की सिद्धि के भौतिक स्तर पर भी पूर्ण नियमानुकूल होने की चेष्टा की। उनके पास जो थोड़ी-बहुत सम्पत्ति थी, वह सब उन्होंने छोड़ दी और कभी धन न छूने का प्रण कर लिया। 'मैं धन कभी नहीं छूऊँगा' – यह विचार मानो उनके शरीर का एक अंश ही हो गया। सम्भव है यह बात तुमको कुछ गूढ़-सी जान पड़े, परन्तु निद्रावस्था में भी यदि मैं उनके शरीर को किसी सिक्के से छू देता था, तो उनका हाथ ही टेढ़ा हो जाता था और उनका सारा शरीर ऐसा प्रतीत होता था मानो लकवा मार गया हो !

दूसरा विचार जो उनके मन में उत्पन्न हुआ, वह यह था कि 'काम-वासना दूसरा शत्रु है।' मनुष्य वस्तुत: आत्मस्वरूप है, आत्मा निर्लिंग है, वह न स्त्री है, न पुरुष। उन्होंने सोचा कि काम तथा कांचन के ही कारण उनको माँ के दर्शन नहीं होते। सारा विश्व माता का ही रूप है और वह हर स्त्री के शरीर में निवास करती है। हर स्त्री माता का ही रूप है, अत: किसी स्त्री को स्त्री-भाव से मैं कैसे देख सकता हूँ? यह विचार उनके मन में पूर्ण रूप से जम गया था। हर स्त्री हमारी माता है; तथा हमें उस अवस्था को पहुँच जाना चाहिए, जब हर स्त्री में केवल जगन्माता का ही स्वरूप दिखे और यह ध्येय उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से निबाहा।[४]

श्रीरामकृष्ण को देखा है – सभी स्त्रियों के प्रति मातृभाव, चाहे वह किसी भी जाति की, कैसी भी स्त्री क्यों न हों।[५]

(इस) निरक्षर युवक ने अपनी नि:स्पृहता और त्याग के प्रभाव से बड़े-बड़े दिग्गज पण्डितों के छक्के छुड़ा दिये। एक बार दक्षिणेश्वर के मंदिर में पुजारी से विष्णु-प्रतिमा का पैर टूट गया। पण्डितों की एक सभा हुई और उन्होंने अपने पुराने पोथे और ग्रन्थ देखकर निर्णय दिया कि खण्डित मूर्ति का पूजन शास्त्रविरुद्ध है, अत: नयी मूर्ति की स्थापना की जाय। इस पर काफी वाद-विवाद और शोरगुल मचा। अन्त में श्रीरामकृष्ण बुलाये गये। उन्होंने सब कुछ सुनकर पूछा, "क्या पति पंगु हो जाय, तो पत्नी उसे त्याग देगी?" फिर क्या हुआ? पण्डितों ने यह तर्क सुना, तो उनके मुँह से शब्द नहीं निकले, वे मूक हो गये और इस सरल कथन के सामने उनके शास्त्र और भाष्य एक ओर धरे-के-धरे रह गये।... श्रीरामकृष्ण ने क्यों अवतार ग्रहण किया और क्यों केवल किताबी ज्ञान का उपहास किया? उनके साथ जिस नवीन जीवनी-शक्ति का आविर्भाव हुआ है, उससे जब हमारी शिक्षा ओतप्रोत हो जायेगी, तभी सफलता प्राप्त होगी।[६]

बाद में एक बार उन्होंने मुझे बताया, "बेटा, मान लो एक कमरे में सोने का एक थैला रखा है और पास के दूसरे कमरे में ही एक चोर है, तो क्या रात में उस चोर को नींद आयेगी? कदापि नहीं – उसके मन में तो निरन्तर यही उथल-पुथल मची रहेगी कि मैं उस कमरे में कैसे पहुँचूँ और उस सोने को कैसे पाऊँ ! वैसे ही जिस मनुष्य की यह दृढ़ धारणा हो गयी कि इस माया-विस्तार के पीछे एक अविनाशी, अखण्ड, आनन्दमय परमेश्वर है, जिसके सामने इन्द्रियों का सुख कुछ भी नहीं है, तो वह मनुष्य क्या उस परमेश्वर को प्राप्त किये बिना क्षण भर के लिए चुपचाप बैठ सकता है? कदापि नहीं – वह असह्य छटपटाहट के कारण पागल हो जायेगा।" इस दिव्य उन्माद ने बालक को ग्रस लिया। उस समय उसका कोई पथ-प्रदर्शक न था, कोई उसे कुछ बतलाने वाला भी न था और सभी लोग यही समझते थे कि वह बालक पागल हो गया है।...

❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड १०, पृ. १३९-४० तथा श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, सं. २००८, खण्ड १, पृ. ३५९-६०; **२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३६६-६७; **३.** वही, खण्ड ३, पृ. ५६१; **४.** वही, खण्ड ७, पृ. २४१-५१; **५.** वही, खण्ड ६, पृ. १८५; **६.** वही, खण्ड ८, पृ. २३२;

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१९१. सभी जीव ईश्वर के प्यारे

फारस के सन्त नूरी अनल-हक (मैं ही ईश्वर हूँ) मंत्र का जप करते और दूसरों को भी ऐसा ही करने को कहते। यह बात कट्टरपन्थियों को बहुत बुरी लगी। वे लोग इस शिकायत को लेकर बादशाह के पास पहुँच गये। परन्तु सन्त और उनके अनुयायियों पर इसका जरा भी असर नहीं हुआ। बादशाह ने नाराज होकर सन्त तथा उसके सभी अनुयायियों को गिरफ्तार करके उन्हें मृत्युदण्ड की सजा सुना दी।

दण्ड के लिये नियत दिन सबको एक पंक्ति में खड़ा कर दिया गया। बादशाह ने जल्लाद से एक-एक करके सबका सिर तलवार से उड़ाने की आज्ञा की। जल्लाद जब पहले अनुयायी के पास गया और उसका सिर उड़ाने के लिए उसने ज्योंही तलवार उठाई, सन्त नूरी वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने जल्लाद से सबसे पहले अपना सिर काटने को कहा। जल्लाद बोला, ''उतावले क्यों हो, मलंग! तुम्हारी बारी आने पर तुम्हारा भी सिर कलम कर दिया जाएगा।'' सन्त ने कहा, ''मेरे गुरु ने मुझे नसीहत दी है कि दुनिया का हर इंसान एक समान है – न कोई बड़ा है, न कोई छोटा, इसलिए हर एक के साथ भाई जैसा बर्त्ताव करना चाहिए, किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। अपने प्यार को परिवार के सदस्यों पर ही नहीं उड़ेलना चाहिए, बल्कि खुदा ने जिसको भी इस संसार में भेजा है, वे सभी मेरे प्यार के काबिल हैं। जिस आदमी का सिर तुम काट रहे थे, वह भी खुदा द्वारा भेजा हुआ है; वह मेरा भाई है। इस कारण मैं उसे पहले कैसे मरने दूँ। पहले मेरा सिर काटो और उसके बाद दूसरों पर तलवार उठाना।''

जल्लाद ने सुना, तो सोचने लगा – अल्लाह ने मुझे भी तो इस संसार में भेजा है, इसलिए ये सब मेरे भी तो भाई ही हुए और मैं जो इन भाइयों को मौत के घाट उतारने जा रहा हूँ – यह ठीक नहीं। उसने तलवार नीचे रख दी और बादशाह से कहा, ''मैं अपने भाइयों का कत्ल करके दोजख में नहीं जाना चाहता। आप मेरा सिर उड़ा सकते हैं, मगर मैं इनका सिर नहीं उड़ा सकता।'' इन शब्दों का बादशाह पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उसे पछतावा होने लगा कि बेवजह ही उसके द्वारा इतने लोगों के कत्ल का गुनाह उसके द्वारा होने जा रहा था, लेकिन बेरहम माने जाने वाले जल्लाद ने उसकी आँखें खोल दी हैं। बादशाह ने सन्त से माफी माँगी और सबको सम्मान के साथ विदा किया।

१९२. समझ-बूझकर निर्णय लेना

श्रवण कुमार अपने अन्धे माता-पिता को कावड़ में बिठाकर पैदल ही तीर्थ कराने निकल पड़े। कई दिनों की यात्रा के बाद वे एक स्थल पर ठहर गये। उनके मन में सहसा यह विचार उठा कि भले ही मेरे माता-पिता को दिखाई नहीं देता, मगर उनके हाथ-पैर तो ठीक हैं। ये लोग मेरा हाथ पकड़कर पैदल भी तो चल सकते हैं। तो फिर क्यों मैं व्यर्थ ही उनका बोझ ढोकर कष्ट उठा रहा हूँ। उसने उनसे कहा, ''मैं अब आप लोगों का बोझ नहीं ढो सकता। आगे की यात्रा आप मेरा हाथ पकड़कर पैदल चलकर करें।'' यह कहकर उसने कावड़ को नीचे रख दिया। पिता ने कहा, ''बेटा, हमारी इच्छा थी कि अगर तू हमें यात्रा कराएगा, तो सारे संसार में तेरा नाम अमर हो जाएगा। सारी दुनिया तुझे आदर्श पुत्र कहकर तेरा नाम लेगी, लेकिन इस भयावह स्थान में रात को ठहरना ठीक नहीं।''

श्रवण कुमार उनका हाथ पकड़कर आगे ले जाने लगा। परन्तु एक स्थान पर उसके मन में विचार आया कि मैं भी कितना मूर्ख हूँ कि बूढ़े माता-पिता को पैदल चलवा रहा हूँ। वह फूट-फूटकर रोने लगा और बोला, 'मैंने आप जैसे वृद्धों तथा अन्धों को पैदल चलाकर बहुत बड़ा पाप किया है। भगवान मुझे कभी क्षमा नहीं करेंगे। मुझे आपकी सेवा करने का जो सौभाग्य मिला था, उसे मैंने गँवा दिया।'' पिता ने कहा, ''दुखी न हो बेटे, इसमें तेरा कोई दोष नहीं है। जिस जगह पर तेरे मन में हमें ढोकर न ले जाने के विचार उठे थे, वह क्षेत्र ही ऐसा था कि जहाँ अच्छे-अच्छों की मति मारी जाती है। उस इलाके में पहले मय नामक एक दानव रहता था, जिसने अपने माता-पिता को मार डाला था। उस क्षेत्र को पार करने के बाद दूसरे क्षेत्र में पहुँचते ही तेरा मन हमारी अवस्था देखकर पसीज गया। अगर तूने उस स्थल पर पड़ाव डाला होता, तो मय के समान तुझसे भी अनर्थ हो जाता। उस विशेष जगह पर हर व्यक्ति की मति मारी जाती है, इसलिये तुझे जरा भी पश्चाताप नहीं करना चाहिए।''

आश्चर्य की बात है कि स्थान और समय भी मनुष्य की मानसिक अवस्था पर असर डालते हैं। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह तात्कालिक आवेग में कोई कदम न उठावे। ऐसी कोई परिस्थिति आने पर वह अपने निर्णय को आगे के लिये स्थगित कर दे।

साधना, शरणागति और कृपा (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ।। १/१४२

– यह सोचकर महाराज मनु के मन में बड़ा दुख हुआ कि घर में रहते ही बुढ़ापा आ गया, पर विषयों से वैराग्य नहीं हुआ, जन्म श्रीहरि की भक्ति बिना व्यर्थ ही चला गया।

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ।।
तीरथ बर नैमिष बिख्याता । अति पुनीत साधक सिधि दाता ।।
बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा । तहँ हियँ हरषि चलेउ मनु राजा ।
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा । ग्यान भगति जनु धरें सरीरा ।।

– तब मनुजी ने अपने पुत्र को जबरन राज्य दिया और अपनी पत्नी के साथ वन-गमन किया। अत्यन्त पवित्र और साधकों को सिद्धि देने वाला तीर्थों में श्रेष्ठ नैमिषारण्य प्रसिद्ध है ।। वहाँ मुनियों और सिद्धों के समूह बसते हैं। राजा मनु हृदय में हर्षित होकर वहीं चले। धीर बुद्धिवाले राजा और रानी मार्ग में जाते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण किए जा रहे हों ।।

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा । हरषि नहाने निरमल नीरा ।।
आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी । धरम धुरंधर नृपरिषि जानी ।।
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए । मुनिन्ह सकल सादर करवाए ।।
कृस सरीर मुनिपट परिधाना । सत समाज नित सुनहिं पुराना ।।

– (आखिरकार) वे गोमती नदी के किनारे जा पहुँचे। उन्होंने हर्षित होकर निर्मल जल में स्नान किया। उनको धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध और ज्ञानी मुनि उनसे मिलने आए ।। मुनियों ने आदरपूर्वक उन्हें सभी सुन्दर तीर्थों के दर्शन कराये। उनका शरीर दुर्बल हो गया था। वे मुनियों के से वस्त्र धारण करते थे और संतों के समाज में नित्य पुराण सुनते थे ।।

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग ।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ।।१४३।।

– राजा और रानी द्वादशाक्षर मंत्र का प्रेमसहित जप करते थे। उनका भगवान वासुदेव के चरण-कमलों में खूब मन लगा ।।

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और अन्य समुपस्थित सन्त-मण्डली के चरणों में मैं सादर नमन करता हूँ। कथा के पूर्व परम श्रद्धेय स्वामीजी पिछले दिन की कथा का जो सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उनका वह संक्षेप में उद्बोधन आप लोगों के लिए ही नहीं, मेरे लिए भी बड़ा उपयोगी है। संक्षेप करने का कार्य मेरे लिए तो बड़ा कठिन है, क्योंकि मैं प्रकृति से व्यास हूँ। व्यास का अर्थ है – विस्तार करनेवाला और सच तो यह है कि कल क्या बात कही गई मुझे भी याद नहीं रहती। यह कोई काव्य नहीं – सत्य है; जैसे इस माइक के माध्यम से कथा हो रही है और कोई उससे कह दे कि कल तुमने जो कथा सुनाई, वह एक बार फिर सुना दो, तो उस बेचारे के पास कोई स्मरण-शक्ति तो नहीं है। मैं तो एक यंत्र के रूप में जो कहता हूँ, वह कह जाता हूँ। तो परम श्रद्धेय स्वामीजी पिछले प्रवचन का जो सार-संक्षेप बता देते हैं, उससे आपके समझने के लिये और मुझे बोलने के लिये शृंखला के क्रम को जोड़ने में बड़ी सुविधा होती है।

महाराज मनु का प्रसंग चल रहा था। वे मानव जाति के आदि पुरुष हैं। उनका प्रसंग चुनने का तात्पर्य यह है कि उनके माध्यम से केवल एक व्यक्ति का चरित्र या एक व्यक्ति का आदर्श ही हमारे आपके सामने नहीं आता है, अपितु वे समस्त मानव जाति के लिए सदा-सदा के लिए उपयोगी हैं। उनका आचरण धर्म और मर्यादा से युक्त है। फिर उन्होंने समाज-संचालन की दृष्टि से धर्म और मर्यादा को 'स्मृति' ग्रन्थ का भी रूप दिया। मनुस्मृति में बहुत-सी ऐसी बातें हो सकती हैं, जो सम्भव है कि वर्तमान युग के सन्दर्भ में सही न लगें, उपयोगी न प्रतीत हों और बहुधा उन्हें लेकर विवाद भी उठाये जाते हैं। लेकिन समस्या यह है कि ऐसे बहुत ही कम लोग होंगे, जिन्होंने मनुस्मृति को पूरा पढ़ा होगा। उसे पूरा पढ़ने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उसमें जीवन के लिये कितने महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। जीवन और समाज के लिये उन्होंने बहुत-कुछ दिया है। जो आपको आज उपयोगी प्रतीत न हो, उसे आप छोड़ दें, तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, पर आप यह मानने की भूल न करें कि मनुस्मृति कोई ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें बड़ी कठोर रूढ़िवादिता की बातें हैं। रूढ़िवादिता की परिभाषायें बदलती रहती हैं। महाराज मनु ने स्वयं मर्यादा और धर्म के अनुकूल जीवन व्यतीत किया और समाज को भी मनुस्मृति के रूप में एक मर्यादा प्रदान की। उनका राज्य बड़ा ही सुव्यवस्थित था। उनका पूरा परिवार अत्यन्त धार्मिक

था – पत्नी पतिव्रता थी और पुत्र आज्ञाकारी था।

इस प्रकार मनु अपने धर्म तथा कर्तव्यों का पालन करते हैं। वृद्धावस्था के चिह्न शरीर में आ जाने पर उनके मन में एक विचार उदित हुआ, एक द्वन्द्व उत्पन्न हुआ कि अब तक मैंने जो कुछ किया है, क्या उतना ही जीवन की परिपूर्णता के लिये यथेष्ट है? उन्हें लगा – जीवन-पथ में वह सब भी आवश्यक है, पर उसी में जीवन की परिपूर्णता नहीं है।

इसको गोस्वामीजी ने विभिन्न प्रसंगों में अनेक सांकेतिक शब्दों में व्यक्त किया है। वर्षा के सन्दर्भ में आप देखते हैं कि चारों ओर जल बरस रहा है; उसे जहाँ भी स्थान मिलता है – कहीं सरोवरों में, कहीं नदियों में – बहता हुआ चला जा रहा है। वह नदी यदि किसी पर्वत से या किसी जल-स्रोत से जुड़ी हुई है, तो वहाँ उस जल से समाज की कितनी बड़ी सेवा होती है, उसकी कितनी उपयोगिता है। परन्तु इतना सब होते हुए भी नदी के जीवन में स्थिरता नहीं है। वह निरन्तर आगे की दिशा में बढ़ती जा रही है और ऐसा लगता है कि वहाँ उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

नदी यदि शुष्क मरुभूमि की ओर बहे, तो वह जितनी उपयोगी सिद्ध हो सकती है, जितनी समाज-सेवा कर सकती है; समुद्र की ओर जाते हुए वह सेवा नहीं होगी। मरुभूमि में जल की आवश्यकता है, पर समुद्र को जल की कोई जरूरत नहीं, तो भी नदी समुद्र की ही ओर क्यों जा रही है? यदि कोई नदी से पूछे – "तुम दूसरों की प्यास बुझाकर इतना परोपकार – इतनी सेवा करती हो, पर उस समुद्र की ओर क्यों जा रही हो, जहाँ असीम जल है।" तो नदी का उत्तर होगा – "मैं सबकी प्यास बुझाती तो हूँ, पर क्या मुझे प्यास नहीं लगती? मेरी प्यास तो समुद्र को छोड़कर दूसरा कोई नहीं बुझा सकता। अन्त में मैं समुद्र में जाकर ही अपनी प्यास को मिटाती हूँ। उसी में समाकर धन्य हो जाती हूँ।"

जीव के लिये यह परम आवश्यक है कि वह भी ठीक इसी प्रकार अपने कर्तव्य-कर्म का पालन करे, समाज की सेवा करे, लोक-कल्याण के कार्य करे, परन्तु उसे उसी में रुक नहीं जाना है। उसकी यात्रा समुद्र में जाकर ही समाप्त होगी। भगवान राम लक्ष्मणजी से कहते हैं – नदी का जल समुद्र में जाकर वैसे ही स्थिर हो जाता है, जैसे जीव परमेश्वर को पाकर अचल हो जाता है –

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।। ४/१४/८

जीव की इस यात्रा को गोस्वामीजी ने कई प्रसंगों के द्वारा प्रगट किया है। एक शब्द है – 'समर्पण'। भगवान गीता में उपदेश देते हैं कि भगवान के प्रति समर्पित हो जाना चाहिए। सारे ग्रन्थों में समर्पण की महिमा का वर्णन किया गया है, परन्तु समर्पण का उद्देश्य क्या हो? गोस्वामीजी इस विषय में एक बड़ा ही मधुर संकेत देते हैं।

महर्षि विश्वामित्र – यज्ञ की रक्षा के लिये भगवान राम तथा लक्ष्मण को संग लिये अपने आश्रम की ओर जा रहे हैं। उन्हें पहले से पता चल चुका है कि ये दोनों ईश्वर के अवतार हैं; और यज्ञ की रक्षा के लिए राक्षसों का विनाश करना इन्हीं के लिए सम्भव है। एक दृश्य सामने आता है। ताड़का नाम की भयावनी राक्षसी आती है और क्रोध में भरकर मुनि तथा इन दोनों बालकों की ओर दौड़ती है। प्रभु पूछते हैं – गुरुदेव यह कौन है? मुनि ने बताया – "राम, यही वह ताड़का है, जिसके पुत्रों के द्वारा यज्ञ नष्ट किया जाता है। अब तुम्हें बाण का प्रयोग करके इसका वध करना है।" भगवान श्रीराम ने बाण का प्रहार किया। एक ही बाण के प्रहार से ताड़का मर गई। पर गोस्वामीजी का अगला वाक्य बड़ा अटपटा है। और उसके बाद की उनकी बात और भी विचित्र है। गोस्वामीजी कहते हैं – जब भगवान श्रीराम ने ताड़का का वध कर दिया, तो महर्षि समझ गये कि ये ही साक्षात् ईश्वर हैं –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही।। १/२०९/७

तो यह बड़ी विचित्र-सी बात है। वे तो पहले से ही यह समझ गये थे कि धरती का भार मिटाने के लिये हरि का अवतार हो चुका है – **प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा** (१/२०६/६)। और अब यह कहना कि ताड़का-वध के बाद उन्हें लगा कि ये ईश्वर हैं! इसके दो सांकेतिक अर्थ हैं।

एक सांकेतिक अर्थ का सम्बन्ध तो भगवान की लीला से है। लीला शब्द का अभिप्राय है कि उसमें जो घटनाएँ होती हैं, वे अभिनय के रूप में घटित होती हैं। महाराज दशरथ जब महर्षि विश्वामित्र को अपना पुत्र देने लगे, तब से इस पूरे क्रम में 'समर्पण' का एक बड़ा मधुर संकेत है। महाराज दशरथ ने गुरु वशिष्ठ की कृपा से श्रीराम को पाया और बाद में महर्षि विश्वामित्र के हाथों उन्हें समर्पित किया। विश्वामित्र जब दशरथजी से श्रीराम के लिये याचना करते हैं, तो दशरथजी ममता के वशीभूत होकर व्याकुल हो जाते हैं। पर उन्हें गुरु वशिष्ठ से संकेत प्राप्त होता है और उनका सन्देह नष्ट हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं –

तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कह पावा।। १/२०८/८

इसके बाद उन्होंने बड़े प्रेम से दोनों पुत्रों को बुलाया। उन्हें हृदय से लगाकर तरह-तरह की शिक्षा दी और आशीर्वाद देने के बाद विश्वामित्र के हाथों में उनका समर्पण किया –

अति आदर दोउ तनय बुलाए।
हृदयँ लाइ बहु भाँति सिखाए।। १/२०८/९
सौंपे भूप रिषिहि सुत
बहुबिधि देइ असीस। १/२०८/क

संसार में जब कोई वस्तु हमारे पास होती है, तो उसे देने में एक समस्या रहती है कि जितनी मात्रा में आप देंगे, उतनी मात्रा में आपके पास कम हो जायगी। इसलिये देने में व्यक्ति थोड़ी कृपणता करता है; और यदि देता भी है, तो उसको यह ध्यान बना रहता है कि केवल इतना दें कि हमारे पास भी कुछ बचा रहे। कहीं ऐसा न हो कि हमारे पास कुछ रह ही न जाय। परन्तु यहाँ सबसे महत्त्व की यह बात है कि यहाँ ईश्वर के समर्पण की बात है। महर्षि विश्वामित्र ईश्वर को लेने आए थे और दशरथ ईश्वर का समर्पण करनेवाले हैं। यही एक ऐसा सौदा है, जिसमें कभी घाटा नहीं होता। पूर्ण को जब दिया जाता है, तब भी आपके पास जो बचता है वह पूर्ण ही होता है। क्योंकि पूर्ण जो वस्तु है, वह तो अखण्ड ही होता है। वह जब भी होगा, पूर्ण ही होगा। अत: गुरु के द्वारा इस सत्य को हृदयंगम करके दशरथजी के हृदय में समर्पण की वृत्ति जागृत होती है। पर इसके साथ-साथ उनकी वात्सल्य भावना भी बड़ी प्रबल थी। इसलिए उन्होंने समर्पित करते समय विश्वामित्रजी से कहा – महाराज, ये दोनों पुत्र तो मेरे प्राण के समान हैं, अब तो बस आप ही इनके पिता हैं –

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।। १/२०८/१०

परिणाम क्या हुआ? महर्षि विश्वामित्र का ज्ञान महाराज दशरथ के पितृत्व से आच्छादित हो गया। इधर प्रभु भी बड़े कौतुकी हैं। उन्होंने कहा – पिताजी ने गुरुदेव को जब गुरु के रूप में न कहकर पिता के रूप में परिचय दिया है, तो मेरा भी व्यवहार तो पुत्र के समान ही होना चाहिए। अत: चलते समय प्रभु जब पुत्र जैसा व्यवहार करने लगे, तो विश्वामित्र जी में भी उनके ईश्वरत्व के स्थान पर दशरथजी जैसी पितृत्व की भावना आ गयी। भगवान राम तो वन की यात्रा में पहली बार आए हुए हैं। वे किसी पक्षी को बोलते देखते, तो उसकी बोली की नकल करने की होड़ लग जाती; कोई वृक्ष देखते, तो पूछते – यह कौन-सा वृक्ष है। कोई दृश्य देखते, तो कहते – यह कैसा अद्‌भुत दृश्य है? और पराकाष्ठा तब हो गई, जब सरोवर दिखाई पड़ा। उसमें कमल खिले हुए थे, तो देखकर भगवान राम इतने प्रसन्न और उत्साहित हुए कि विश्वामित्र से पूछे बिना ही दोनों भाई तालाब में कमल तोड़ने के लिए घुस गये। इस समय, गुरुदेव के अन्त:करण में दशरथ की वात्सल्य-भावना इतनी अधिक समाई हुई दिखाई दे रही है कि गोस्वामीजी गीतावली रामायण में कहते हैं – विश्वामित्रजी डरने लगे और दोनों बच्चों से पूछने लगे – अरे, वन में ऐसे नहीं जाओ, भटक जाओगे। सरोवर में ऐसे मत जाओ, तुम लोग तैरना जानते भी हो या नहीं, डूब तो नहीं जाओगे? रुको रुको! तुरन्त वापस लौट आओ –

पैठत सरनि सिलनि चढ़ि
चितवत खग मृग बन रुचिराई।
सादर सभय सप्रेम पुलकि
मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई।। (गीतावली, १/५२)

जब ईश्वर के भटकने का डर लगे, जब उसके डूबने तक का भी डर लगे, तो यह तो वात्सल्य की पराकाष्ठा ही थी। महाराज दशरथ का जो भाव था, मानो सचमुच वही विश्वामित्र के हृदय में पैठ गया और वे मुनि के रूप में नहीं, गुरु के रूप में नहीं, पितृत्व में प्रतिष्ठित होकर ऐसा बोल रहे थे। यह माधुर्य का पक्ष था और इसके बाद जब ताड़का सामने आयी, तब उन्हें स्मरण आता कि इसी के वध हेतु तो हम इन्हें लाए हैं। आदेश देते हैं – मारो। भगवान श्रीराम का बाण लगते ही ताड़का ज्योंही गिरी, त्योंही उनका बोध लौटता है – "अरे, इनकी कैसी अद्‌भुत लीला है? मैं तो भ्रमित हो गया। जो एक ही बाण में इस भयावनी राक्षसी का वध कर देता है, वह तो साक्षात् ईश्वर ही है।"

मानो माधुर्य-लीला से अब वे ऐश्वर्य में प्रविष्ट हुए। दूसरी ओर इसमें एक आध्यात्मिक महत्व का संकेत भी है। ईश्वर के सच्चे ज्ञान की परिभाषा क्या है? किसी ने ईश्वर को जान लिया या पा लिया, वह इसकी परिभाषा कैसे करे? यदि किसी व्यक्ति के साथ स्वयं भगवान राम ही चल रहे हों, वह भगवान राम को देख रहा हो, तो क्या इसका यह अर्थ है कि उसने सचमुच ईश्वर को पा लिया? ईश्वर को जान लिया? ईश्वर को समझ लिया? बहिरंग अर्थों में तो कहेंगे – पा लिया, पर उसका एक सूत्र है। यह ठीक है कि उसने देख लिया, पा लिया; पर आध्यात्मिक अर्थ यह है कि ईश्वर के सच्चे ज्ञान की वस्तुत: एक ही कसौटी है और वह यह कि ताड़का का वध हो जाय। इसका अभिप्राय क्या है?

ताड़का मानो मूर्तिमती दुराशा है – गोस्वामीजी रामायण तथा विनयपत्रिका में ऐसा ही संकेत करते हैं। ईश्वर को पाने के बाद यदि हमारे जीवन में किसी से कुछ आशा बनी हुई है, तो हमने ईश्वर को न पहचाना है और न पाया है। जिसने ईश्वर को पा लिया है, उसको संसार में किसी से कोई आशा नहीं रह जायगी। भगवान बड़े गम्भीर स्वर में कहते हैं – कुछ लोग कहते हैं कि मैं आपका दास हूँ, पर वे संसार में जहाँ-तहाँ हर किसी से आशा लगाये रखते हैं। इसके बाद वे स्वयं प्रश्न करते हैं – यदि सचमुच मेरी क्षमता पर विश्वास होता, तो क्या उसके लिये सम्भव था कि वह संसार में उसके जीवन में कहीं पर किसी से कोई आशा रह जाती?

मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।। ७/४६/३

भक्ति में तो भगवान सर्वत्र यह कहते हैं –

आठवँ जथा लाभ संतोषा ।
सपनेहु नहिं देखहिं परदोषा ।।
नवम सरल सब सन छल हीना ।
मम भरोस हियँ हरष न दीना ।। ३/३६/५-६

जब हम सच्चे अर्थों में ईश्वर को पा लेते हैं, पाने का अनुभव हमें हो जाता है तो हमारे जीवन में संसार में किसी से कुछ पाने की अभिलाषा शेष रह ही नहीं जाती। तो महर्षि ने जब देखा कि यह जो आशा-रूपी ताड़का थी, जब उसको भी नि:शेष कर दिया गया, तो अब उन्हें लगा कि ईश्वर सचमुच हमारे निकट आ गया है। विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने एक बात कहीं – भगवान के द्वारा यदि कोई वस्तु मिल जाय और उसके द्वारा हम यह समझ लें कि यही सर्वोत्तम वस्तु है, यही कृपा का लक्षण है, तो कृपा की यह व्याख्या अधूरी है। वस्तुत: कृपा का वह भी एक संकेत है। माँ जब बच्चे पर प्रसन्न होती है, तो मिठाई भी दे देती है, खिलौना भी दे देती है, यह भी उसके स्नेह का ही प्रतीक है, लेकिन माँ उसको देने के साथ-साथ यह भी चाहती है कि हमारा बालक बड़ा बने, योग्य बने और पुरुषार्थी बने।

इसी प्रकार संसार में भी वस्तुएँ पाकर हमें प्रसन्नता होती है और इन वस्तुओं की प्राप्ति को हम जो प्रभु की कृपा मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, तो वह तो दुर्भाग्य की बात है। तो फिर भगवान को हमने पा लिया – इसकी क्या कसौटी है? गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में कहते हैं – प्रभो, मुझे आप अपना लीजिए। बोले – क्या तुम्हें लगता है कि मैंने तुम्हें अभी नहीं अपनाया है? बोले – महाराज, आपने अपनाया होगा, लेकिन मुझे तो तब लगेगा, जब मैं ऐसा हो जाऊँ। – कैसा? बोले – प्रभो, यदि अब भी मेरा मन संसार की ओर – विषयों की ओर जाता है, तो मैं कैसे मान लूँ कि आपने मुझे अपना लिया है। मुझे तो लगता है कि जिस सहजता से मेरा मन विषयों की ओर जाता है, उतनी ही सहजता से, बिना प्रयत्न के जब मेरा मन निरन्तर आपकी ओर दौड़ेगा, आपके रस में डूबा रहेगा, तब मैं समझूँगा कि सचमुच आपने मुझको अपना लिया है –

तुम अपनायो तब जाहिनौं जब मन फिरि परिहै ।
जेहि सुभाय विषयन लग्यों तेहि
सो छल छाँड़ि नेह नाथ सो करिहौं ।। २६८

तो लक्ष्य क्या है? माँ ने बच्चे को खिलौना दिया, मिठाई दी, तो उसके द्वारा स्नेह-वात्सल्य दिखाने के बाद माँ उसे कुछ और भी देगी, योग्य बनायेगी, यही माँ के वात्सल्य का परिणाम है। इसी कसौटी के आधार पर महर्षि विश्वामित्र की दुराशा मिट गई और उन्हें ज्ञान हो गया कि बस, अब राम मुझे मिल गये। ये राम ईश्वर हैं। यह एक संकेत मिला। परन्तु उसके बाद बड़े महत्त्व की बात है। महर्षि विश्वामित्र ने कहा – राम, मैं तुम्हें कुछ विद्याएँ दूँगा। वे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग तो छोड़ चुके थे, लेकिन उनका ज्ञान तो उनको था ही। तो उनके पास अस्त्र-शस्त्रों का जितना भी ज्ञान था, वह सब उन्होंने श्रीराम को बता दिये और कहा कि मैं तुम्हें ऐसा मंत्र देता हूँ, जिसके स्मरण करने से भूख-प्यास का कष्ट नहीं होता है। अब इसे पढ़कर और आश्चर्य होता है। जब तक वे श्रीराम को ईश्वर नहीं समझे थे, तब तक उन्हें विद्या दें, तो ठीक था कि चलो बालक को भूख-प्यास लगती ही है, या शस्त्रों का कम ज्ञान हो, तो अधिक ज्ञान हो जाय। गोस्वामीजी कहते हैं कि ईश्वर को पहचान कर, तब उन्होंने विद्या दी। यह तो उल्टी बात हो गई। फिर गोस्वामीजी ने एक शब्द के द्वारा सूत्र दे दिया, बोले – जैसे नदी समुद्र में जाकर धन्य होती है, वैसे ही विश्वामित्रजी ने अपनी विद्या को धन्य करने के लिये उसे प्रभु को समर्पित किया –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही ।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।। १/२०९/७

विश्वामित्रजी ने भगवान की कोई कमी पूरा करने के लिए उन्हें विद्या नहीं दी। अब उनके शस्त्र और शास्त्र दोनों का प्रयोजन पूरा हो चुका था। अब उन्हें लगा – बस, आप में ही सब है; यह आपकी वस्तु है, आप ही में रहे। इसीलिये गोस्वामीजी का शब्द है – उन्होंने विद्यानिधि को विद्या दी। यहाँ समर्पण अपनी वस्तु का नहीं है। नदी जब समुद्र को जल देती है, तो जल नदी का थोड़े ही होता है। वह जल वर्षा से आया हुआ है। मेघ के माध्यम से आया हुआ है और मेघ तो समुद्र से ही बना हुआ है। नदी को विभिन्न स्रोतों से जो जल प्राप्त हुआ है, वह उसका अपना नहीं है। वस्तुत: नदी को यह ज्ञात हो गया कि समग्र जल का केन्द्र तो समुद्र ही है। समर्पण के मूल में वस्तु को देना नहीं है, बल्कि यह वृत्ति आ जाना है। यह उन्हीं की वस्तु है, जिसे अभी तक हम अपना माने हुए बैठे थे; बस, उसे अपना मानना छोड़ देना ही समर्पण है। यही समर्पण की व्याख्या है। गोस्वामीजी इस यात्रा में पूरे क्रम की ओर संकेत करते हैं –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही ।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।।
जाते लाग न छुधा पिपासा ।
अतुलित बल तन तेज प्रकासा ।। १/२०९/७-८
आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि ।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि ।। १/२०९

गुरुदेव अब प्रभु को अपने आश्रम में ले जाकर कन्द-मूल-फल खाने को देते हैं, तो उन्हें मानो बोध हो रहा है कि वस्तुत: ये तो भावना से ही प्रसन्न होनेवाले हैं, इसलिये इनकी भावना की तृप्ति के लिये मैं फल अर्पित कर रहा हूँ। तो इस पूरी यात्रा में आपको समर्पण के क्रम का संकेत

मिलेगा – पहले महाराज दशरथ का समर्पण, फिर विश्वामित्रजी का समर्पण और तब वे श्रीराम-लक्ष्मण को लेकर जनकपुर जाते हैं। वहाँ क्या होता है? – महाराज जनक का समर्पण। तो यह पूरा प्रसंग ही समर्पण की यात्रा है।

पहले तो जनकजी ने कहा – जब कोई धनुष तोड़ेगा, तो मैं उसे अपनी कन्या दूँगा। कोई व्यक्ति आपका काम करेगा, बदले में आप उसे कुछ देंगे। यह तो कोई समर्पण नहीं हुआ। इसीलिए भगवान धनुष तोड़ने को नहीं उठे। सीताजी को पाने के लिये जनकजी की प्रतिज्ञा, उनकी शर्त मानना जरूरी है। वे कहते हैं – जो धनुष तोड़ेगा, उसी को अपनी कन्या दूँगा। श्रीराम नहीं उठे। जो लोग चाहनेवाले थे, वे उठ खड़े हुए। उनमें तो भगदड़ ही मच गई। भगवान बैठे हुए हैं। उनका उद्देश्य क्या था? यदि भगवान राम पहले धनुष तोड़ देते, तो जनकजी को लगता कि मेरी प्रतिज्ञा इस राजकुमार के द्वारा पूर्ण हुई, इसलिए मैं अपनी कन्या इसे समर्पित कर रहा हूँ। उनके मस्तिष्क में यही बात रह जाती। परन्तु जब नहीं उठे, तो उसका अभिप्राय है कि उन्होंने जनकजी की शर्त को अस्वीकार कर दिया। बाद में वे तब उठे, जब सन्त ने जनकजी की भाषा को बदल दिया। जनकजी एक महान् ज्ञानी और विरागी थे, तथापि उन्हें एक बड़ा भ्रम था। बहुत-से ज्ञानी-विरागियों को थोड़ा भ्रम हो जाता है। यह कोई बहुत बड़ा आश्चर्य नहीं है, एक मानवीय संस्कार कहीं-न-कहीं बोलता है। जब धनुष किसी से नहीं टूटा, तो जनकजी ने खड़े होकर कह दिया – मैं समझ गया कि पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है। – क्यों? उन्होंने कहा – मैं मान नहीं सकता कि कोई बलवान हो और धनुष को तोड़ने के लिये न उठे। – क्यों, ऐसा आप क्यों मानते हैं? तो उन्होंने कहा – इस धनुष को तोड़ने से जो लाभ मिलने वाला है, क्या कोई उसे छोड़ सकता है? परन्तु चढ़ाना और तोड़ना तो दूर रहा, कोई भूमि से तिल भर भी छुड़ा न सका। कोई वीरता का अभिमानी अब नाराज न हो। मैंने जान लिया, पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है।

कहहु काहि यहु लाभु न भावा ।
काहुँ न संकर चाप चढ़ावा ।।
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई ।
तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई ।।
अब जनि कोउ भाखे भट मानी ।
बीर बिहीन मही मैं जानी ।।
तजहु आस ... ।। १/२४२/१-४

आशा छोड़ दो। ज्ञानीजी स्वयं तो बेचारे आशा लगा बैठे थे, परन्तु उन्होंने दूसरों को आशा छोड़ने का उपदेश दिया। तब उसका उत्तर लक्ष्मणजी ने दिया। लक्ष्मणजी का व्यंग्य यह था कि यदि आप यह मानते हैं कि आप में समर्पण वृत्ति है, दानवृत्ति है, आप दूसरों को देना चाहते हैं, तो यह भ्रम आपने कैसे पाल लिया कि ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं होगा, जिसमें लोभ न हो। यह तो बड़ा आपका सात्त्विक अभिमान था कि ऐसा कोई होगा ही नहीं। जब उन्होंने कहा कि धनुष को मैं तोड़ दूँ, तो उन्हें धनुष नहीं तोड़ना था, बल्कि केवल यह बताना था कि इस धोखे में न रहिए कि किसी में इसे तोड़ने की शक्ति नहीं है। तोड़ने की क्षमता है, परन्तु यह आपकी कितनी अनुचित अविवेकी बात है –

कही जनक जसि अनुचित बानी ।। १/२५३/२

जहाँ स्वयं भगवान विद्यमान है; और उनकी उपस्थिति में आप जैसा ज्ञानी ऐसा कह रहा है, जो प्रथम दर्शन के समय ही उन्हें पहचनाने का दावा कर चुका है, कह चुका है – शास्त्रों में जिस ब्रह्म को 'नेति-नेति' कहा गया है, क्या वही ब्रह्म दो रूप धारण करके आया है! –

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा ।
उभय बेष धरि की सोइ आवा ।। १/२१५/२

अब वे ही कहने लगे – कोई है या नहीं। लक्ष्मणजी के वाक्य से जब उनका सात्त्विक अभिमान नष्ट हो गया, तब संत बोले – राम! उठो, धनुष को तोड़ो। उद्देश्य – सीताजी को पाना नहीं, बल्कि जनक का कष्ट दूर करना है –

उठहुँ राम भंजहु भव चापा ।
मेटहु तात जनक परितापा ।। १/२५४/६

जब धनुष टूटता है, तो उसके बाद जो समर्पण होता है, वह निरभिमान समर्पण है। किसी ने कहा – मैंने अपनी वस्तु इन्हें समर्पित कर दी। पर इसमें भी तो समर्पण का अभिमान बना हुआ है। इसलिए समर्पण का अभिमान पहले खण्डित हुआ और उसके बाद उन्होंने सीताजी को समर्पित किया और कैसे समर्पित किया? जैसे हिमांचल ने 'ममता' त्यागकर शिवजी को पार्वती अर्पित की, जैसे समुद्र ने श्रीहरि को लक्ष्मीजी का अर्पण किया, वैसी ही निरभिमानिता के साथ जनकजी ने भी श्रीराम को सीताजी का समर्पण किया।

हिमवंतु जिमि गिरिजा महेसहिं हरिहिं श्री सागर दई ।
तिमि जनक रामहिं सिय समरपी ... ।। १/३२३/१

❖ (क्रमशः) ❖

काठियावाड़ के दो रत्न

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी की दो पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' और अनेक संस्मरणों का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी पुनर्लेखन किया था, जिनमें से कुछ बँगला मासिक उद्बोधन में प्रकाशित हुए थे। उन्हीं रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

(१) राजा विजय सिंह

भावनगर के राजा विजय सिंह बड़े लोकप्रिय थे। परन्तु पहले वे बड़े बदनाम थे। उनका अधिकांश समय शिकार खेलने के चक्कर में ही बीतता और राजकार्य कर्मचारी ही चलाया करते। इसके फलस्वरूप राज्य में अत्याचार का बोलबाला था, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था – विशेषकर किसान लोग बिलकुल ही निर्धन हो गये थे और असीम कष्ट भोग रहे थे। कहते हैं कि एक किसान की स्पष्टवादिता ने ही उनके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन ला दिया। वर्तमान कथा उसी प्रसंग के आधार पर लिखी गयी है।

एक बार विजय सिंह शिकार करने गये। दोपहर की धूप में घूमते हुए थककर वे एक किसान के कुएँ के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपनी अंजली भर-भरकर पानी पीया, घोड़े को भी पानी पिलाया और एक वृक्ष की छाया में विश्राम करने बैठ गये। उनके साथ के लोग काफी पीछे छूट गये थे। किसान अपने रहट के द्वारा चमड़े से बने थैलों में जल भर-भरकर खेत की सिंचाई कर रहा था। उसका दुबला-पतला शरीर सैकड़ों छिद्रों से युक्त वस्त्र से ढका हुआ था। उनके नेत्र तथा मुख से भयंकर पीड़ा के लक्षण प्रकट हो रहे थे। उसके दोनों बैल भी सूखकर कंकाल जैसे हो गये थे और मानो इस कारण विषादयुक्त थे कि यमराज भी उन्हें क्यों भूल गया है!

विजय सिंह को समझते देर न लगी कि किसान की दशा कितनी दयनीय है! किसान अपने आप में डूबा हुआ रहट में जुते बैलों को हाँक रहा था। राजा की ओर उसका ध्यान भी नहीं गया था। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद राजा को जोरों की भूख लग आयी। क्षुधा का प्रकोप सह पाने में असमर्थ होकर राजा बोल उठा – "ओ पटेल, कुछ खाना-वाना है?"

पटेल – यह हाड़-मांस ही बचा है बाबा! इसी को खाकर सन्तुष्ट हो जाओ।

विजय सिंह – पटेल, बड़ी भूख लगी है। क्या तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है?

पटेल – राजा ने कुछ छोड़ा है क्या? केवल शिकार, शिकार, शिकार! इधर राज्य में उनके लोगों ने लूट मचा रखी है, प्रजा का सर्वनाश किया जा रहा है, किसान के घर में अन्न नहीं है – इन बातों की तो वे कोई खबर ही नहीं रखते। कैसा अभागा है हमारा राजा! एक समय भी भरपेट अन्न नहीं जुटता। हे भगवान, क्या गरीब का कोई सहारा नहीं है? (थोड़ा चुप रहकर) तुम्हें क्या खाने को दूँ? थोड़ा-सा घेंस* पीयोगे?

विजय सिंह – वही ले आओ, बड़ी भूख लगी है।

एक हण्डी में घेंस रखा था। किसान ले आया और बरगद के दो-तीन पत्तों का एक दोना बनाकर उसी में घेंस पीने को दिया। विजय सिंह ने सम्भवत: पहले से घेंस का नाम सुन रखा हो, परन्तु जीवन में यह पहली बार ही घेंस पीने को मिला था। भला राजा-महाराजा गरीब के भोजन का स्वाद क्या जानें! जो भी हो, पीने में वह बड़ा स्वादिष्ट लगा, इसीलिये उसने जब दोने को दुबारा भरा, तो उन्होंने कोई आपत्ति नहीं जतायी। किसान ने मेढक की आवाज के समान कर्कश स्वर में बातें तो कही थीं, परन्तु अपना पेट काटकर घेंस पिलाते समय उसके मुख पर दैन्य का चिह्न तक न था।

पेट भर जाने पर राजा ने तृप्ति का अनुभव किया और तब उसने पूछा – पटेल, तुम्हारा नाम क्या है?

पटेल – अब नाम-धाम से क्या काम है भाई! तुम्हारी भूख दूर हो गयी, तो बस इतना ही काफी है!

विजय सिंह – यदि कभी उधर – भावनगर में आओ तो!

पटेल – भावनगर को तो दूर से ही नमस्कार! यदि कभी किसी काम के लिये जाता भी हूँ, तो वहाँ लोग राजा की बेगारी में लगा देते हैं, बड़ा अत्याचार करते हैं। मेरा काम भले ही न हो, लेकिन उनकी बेगारी पूरी किये बगैर छुटकारा नहीं मिलता। अहा, कैसा जुल्म है! कोई सीमा नहीं!

विजय सिंह – पटेल, तुमने इतना सत्कार किया, क्या मैं तुम्हारा नाम जाने बिना जा सकता हूँ? यदि कभी ...

पटेल – सत्कार तो ठीक है भाई! मेरा नाम है सण्डा पटेल। राम राम जी!

राम राम सण्डा भाई – कहकर विजय सिंह ने भी विदा ली। लौटते समय राजा का फिर अपने शिकारी-दल के साथ मिलन हो गया।

सण्डा पटेक की कटु परन्तु खरे सत्य ने विजय सिंह के हृदय की आसुरी वृत्ति को नष्ट करके उसमें दिव्य प्रेरणा जगा दी। तब से उनकी दृष्टि अपने कर्तव्य की ओर उन्मुख हुई

* गेहू या बाजरे के आटे को मट्ठे में पकाकर उसमें नमक-मिर्च मिलाकर घेंस बनाया जाता है।

और उन्होंने राजकार्य में पूरा मन लगाया।

उन्होंने सण्डा को बुला भेजा। सिपाही ने जब सण्डा की झोपड़ी के द्वार पर जाकर उसे राजा की आज्ञा सुनायी, तो वह बड़ा नाराज हुआ। उसने सोचा – जरूर घेंस पीकर जानेवाले उस राजपूत ने ही राजा से मेरी शिकायत की होगी! (पत्नी से बोला) – अब तुम लोग अपना घर सँभालना। मैं तो जेल जा रहा हूँ। उस दिन क्रोध के आवेग में राजा के विषय में अनाप-सनाप बोल गया था और आज सिपाही बुलाने आ गया। मैं तो चला। (चिढ़कर) जाकर मुँह पर ही सुना दूँगा, जो चाहे कर लेगा। बात झूठ भी तो नहीं है। अत्याचार की भी एक हद होती है।

विजय सिंह अपने सभासदों से घिरे हुए राजसभा में बैठे हुए थे। सिपाही सण्डा पटेल को साथ लिये उपस्थित हुआ। सण्डा ने देखा कि उस दिन का राजपूत दूसरा कोई नहीं, बल्कि स्वयं भावनगर के महाराजा ही हैं। उसे बड़ी शरम आयी, परन्तु भय नहीं लगा। उसने कोई झूठ तो कहा नहीं था। विजय सिंह ने प्रसन्न मुद्रा में उसकी ओर देखा और बुलाकर अपने पास बैठाया।

बोले – सण्टा पटेल, ऐसा स्वादिष्ट घेंस मैंने जीवन में कभी नहीं पीया। उसने मेरे लिये बिलकुल अमृत जैसा कार्य किया। अच्छा, तुम्हारे पास कितनी जमीन है।

पटेल – बस, थोड़ा-सा ही है। दो एकड़ होगा और वह कुआँ है।

विजय सिंह – आज से तुम्हारा दस एकड़ हुआ। (दीवान से) इसे दस एकड़ के उपयुक्त बैल तथा अन्य खर्च आदि दिलवाइये। सण्डा, मैं लिख देता हूँ कि इस जमीन पर तुम्हारे वंश का अधिकार बना रहेगा।

राजा ने नयी पगड़ी मँगवाकर उसके सिर पर बँधवाया और कई तरह के उपहार देकर उसे विदा किया। घर लौटकर जब उसने सारी घटना अपने स्त्री-पुत्रों को बतायी, तो उनके आनन्द की सीमा न रही। सण्डा की पत्नी ने राजा को आशीर्वाद देते हुए कहा – विजय सिंह, सौ वर्ष तक राज्य करो, तुम्हारी कीर्ति अमर रहे।

(२) माँ सोनबाई

बड़ी पुरानी बात है। तब तक मराठा-शक्ति का उदय नहीं हुआ था और अंग्रेजों की सत्ता भी सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकी थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की नीति ही प्रबल थी। काठियावाड़ में काठी तथा राजपूत राजाओं का राज्य था। कोल, खाँट, बघेर आदि जातियों ने भी कहीं-कहीं छोटे-छोटे गणराज्य या ग्राम-राज्य स्थापित कर लिये थे। या फिर वे छोटी-छोटी टोलियाँ बनाकर पूरे अंचल में लूट-मार करते हुए घूमा करते थे। ऐसी ही पिण्डारी जाति की एक छोटी-सी टोली पहाड़ों-जंगलों में रहती और बीच-बीच में लूटपाट करके ग्रामवासियों द्वारा संचित सब कुछ छीनकर ले जाती और पीछे आतंक तथा मृत्यु की विभीषिका छोड़ जाती।

काठियों का एक छोटा-सा पुराना गाँव – सुदामड़ा, प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच चित्र के समान दीख पड़ता था। गाँव पर सबकी बराबर की हिस्सेदारी थी। बड़े-छोटे सभी का गाँव पर समान अधिकार था, इसीलिये वे लोग युद्ध आदि में भी समान रूप से भाग लेते। सबके घर में अन्न था। सबके घर में २-४ गाय-भैंसें थीं। सम्पन्नता न भी हो, तो किसी के घर में अभाव नहीं था, निर्बलों पर सबलों का अत्याचार नहीं था। आदेश का पालन होता था, परन्तु साथ ही प्रीति का बन्धन भी था। वहाँ न तो किसी प्रकार की सामाजिक विषमता थी और न ही लोगों में धन-जन की समृद्धि के लिये विशेष आतुरता थी। इसीलिये वे लोग ईर्ष्यामुक्त शान्तिमय और निष्छल आनन्द का जीवन बिताया करते थे।

एक दिन किसी कार्य हेतु गाँव के अधिकांश वयस्क लोग एक अन्य गाँव में गये हुए थे। गाँव में केवल युवक तथा बूढ़े लोग ही रह गये थे। उस दिन वे लोग गाँव के चौरे में बैठकर एक वृद्ध चारण के मुख से काठिया जाति की वीरतापूर्ण कथाएँ सुन रहे थे। तभी गाँव पर सहसा पिण्डारियों का आक्रमण हुआ। पिण्डारियों के नगाड़े की आवाज सुनते ही भय से उनका कलेजा काँप उठा। अब क्या किया जाय? बीस से भी कम आयु के कुछ नवयुवक किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर एक-दूसरे का मुख देखने लगे।

चारण से रहा नहीं गया – "तुम लोग एक-दूसरे का मुख क्या देख रहे हो? तलवार लेकर शत्रु का मुख देखने के लिये तैयार हो जाओ।" पर नेतृत्व के अभाव में वे मुट्ठी भर युवक साहस नहीं जुटा पा रहे थे। – "धिक्कार है तुम्हारे पिता को और धिक्कार है तुम्हारी माता को! लगता है उनके स्तनों में निस्तेज बकरी का दूध था, नहीं तो ...!" यह सुनकर वे लोग तिलमिला उठे और उनकी माता के स्तन में सिंहनी का दूध था, यह प्रमाणित करने को अधीर होकर बोल उठे – "बस, भैया, बस! जरा देख लो कि हम लोगों ने कैसी माँ का दूध पीया है!"

तभी उन लोगों ने सुना, चौक की ओर से 'जय जगदम्बे, जय माता' की ध्वनि आ रही थी। दौड़ते हुए वहाँ जाकर उन लोगों ने देखा कि वृद्ध अप्पा की पत्नी, माँ सोनबाई कमर बाँधकर हाथों में तलवार लिये रणचण्डी के वेश में सबका युद्ध के लिये आह्वान कर रही है। युवकगण लज्जित हुए। इस दृश्य ने उनके प्राणों में असीम साहस तथा शक्ति का संचार कर दिया और वे लोग पिण्डारियों के दल पर टूट पड़े। भयंकर युद्ध हुआ। माँ सोनबाई तथा उनके पुत्रों ने

(शेष अगले पृष्ठ पर)

चरित्र-निर्माण के उपाय

स्वामी आत्मानन्द

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.) के संस्थापक ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने आकाशवाणी हेतु सामयिक विषयों पर विचारोत्तेजक वार्ताएँ लिखी थीं, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित होती रहीं हैं तथा काफी लोकप्रिय भी हुई हैं। इनकी उपादेयता को देखकर इन्हें आकाशवाणी, रायपुर के सौजन्य से क्रमश: 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

अँगरेजी में एक कहावत है – "If wealth is lost nothing is lost; if health is lost, something is lost; if character is lost, everything is lost." - अर्थात् "यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता। यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है। पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।" यह चारित्र्य व्यक्ति का प्राण है, जिसके न रहने से वह चलते-फिरते मुर्दे के ही समान है। चारित्र्य वह गुण है, जो जीवन को सुषमा प्रदान करता है, वह दीप्ति है, जो अन्धकार के क्षणों में व्यक्ति को पथ दिखाती है; वह चट्टान है, जो प्रलोभनों के झंझावात को झेल लेती है, वह निकष है, जो व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। व्यक्ति की महानता उसके चरित्र पर निर्भर करती है। कुर्सी किसी व्यक्ति को महान् नहीं बनाती। सत्ता से प्राप्त महत्ता क्षणिक होती है, वह सत्ता से अलग होते ही नष्ट हो जाती है। पर चरित्र से प्राप्त महत्ता शाश्वत होती है, वज्राघात भी उसका नाश नहीं कर सकता।

चरित्र तीन स्तम्भों पर खड़ा होता है – पहला कर्मठता; दूसरा निर्भीकता; और तीसरा नि:स्वार्थता। चरित्रवान व्यक्ति में आलस्य का अभाव होता है, वह उद्यमशील होता है, कोई भी कार्य उसके लिए असम्भव नहीं होता। उसमें भय का सर्वथा अभाव होता है। वह अन्याय के सामने नहीं झुकता। उसमें साहस इतना भरा होता है कि न्याय और सत्य की रक्षा के लिए वह जोखिम उठाने से नहीं कतराता। उसमें दूसरों के लिए जीने की प्रवृत्ति होती है। वह ऐसा मानता है कि अपने लिए तो पशु भी जीते हैं, मनुष्य-जीवन की सार्थकता वह इसमें देखता है कि वह दूसरों के काम आए।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि मनुष्य केवल दूसरों के लिए जिये, तो अपने परिवार की देखभाल कैसे करेगा? उसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति पूरी तरह से दूसरों के लिए जी रहा है, उसे अपने परिवार को देखने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है। यह कर्म का अटल सिद्धान्त है। हाँ, जो अभी पूरी तरह से दूसरों के लिए अपना जीवन नहीं दे सकता, वह कुछ समय दूसरों के लिए निकाले। वही उसके चरित्र में निखार पैदा करेगा। चरित्र को निखारने वाला तत्त्व नि:स्वार्थता ही है। यदि व्यक्ति कर्मठ और निर्भीक हो, पर अपने स्वार्थ में डूबा हो, तो ऐसा व्यक्ति भले ही अपने और अपने परिवार के लिए उपयोगी हो, पर वह दूसरों के लिए उपयोगी नहीं हो पाता। जब चरित्र नि:स्वार्थता की कसौटी पर कसा जाता है, तब उसमें निखार उत्पन्न होता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज और देश के काम आता है।

चरित्र को रीढ़ की हड्डी कहा गया है। यदि रीढ़ की हड्डी दुर्बल या खराब हो, तो व्यक्ति अपंग हो जाता है। वैसे ही चरित्र के बिना व्यक्तित्व भी अपंग या खोखला हो जाता है।

जिस देश में चरित्रवान लोगों की संख्या जितनी अधिक होगी, वह देश जीवन के सभी क्षेत्रों में उतना ही समृद्ध होगा। मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ आदि करना चरित्र की कसौटी नहीं हैं। ये चारित्र्य को प्रकट करने का साधन बन सकती हैं, यदि इन क्रियाओं के पीछे हमारा मनोभाव दिखावे का अथवा स्वार्थपूर्ति का न हो। खेद की बात तो यह है कि अधिकांशत: हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी हमारे स्वार्थ-साधन का ही अंग होती हैं और इसलिए वे हमारे चरित्र के प्राकट्य में साधक होने के बदले बाधक बन जाती हैं।

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

अपने प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध किया। अन्य अनेक लोगों के साथ ही वे लोग भी घायल होकर धराशायी हुए और अन्त में वीरगति को प्राप्त हुए। परन्तु पिण्डारी लोग गाँव को लूट नहीं सके। बहुत-से लोगों को आहत और निहत छोड़कर वे लोग भाग निकले।

रात का समय था। चारों ओर निस्तब्धता फैली हुई थी। सभी शोकमग्न होकर युद्धक्षेत्र में अपने-अपने लोगों की खोज कर रहे थे। माँ सोनबाई का क्षत-विक्षत शरीर एक चट्टान का सहारा लिये चिरनिद्रा में सोया हुआ था और उनकी गोद में सिर रखे हुए उनकी प्राणों से प्रिय पुत्र तथा आसपास गाँव के अन्य युवक पड़े थे – कोई मृत था, कोई अर्धमृत था, तो कोई बुरी तरह घायल अवस्था में छटपटा रहा था। सब लोगों ने 'जय माँ, जय माँ' कहते हुए उन्हें प्रणाम किया।

(उद्बोधन, वर्ष ५७, अंक ५ से अनूदित)

बाबूराम घोष

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

बाबूराम घोष, जो बाद में स्वामी प्रेमानन्द के नाम से जाने गये, श्रीरामकृष्ण देव के चुने हुए उन छह अन्तरंग शिष्यों में थे, जिन्हें श्रीरामकृष्ण 'ईश्वरकोटि' कहा करते थे। हुगली जिले के आँटपुर ग्राम में १० दिसम्बर १८६१ ई. को जन्मे बाबूराम का धार्मिक और सम्भ्रान्त परिवार में पालन-पोषण हुआ था। भगवद्-भक्ति इस परिवार की विशिष्टता थी, जिसे बाबूराम ने विरासत में पाया और उसे अच्छी तरह पुष्ट भी किया था।

गाँव की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद बाबूराम उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता आये। कुछ समय आर्य विद्यालय में पढ़ने के बाद उन्होंने श्यामपुकुर के पास मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में प्रवेश लिया, जहाँ बाद में 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' ग्रन्थ के लेखक के रूप में प्रसिद्ध होनेवाले श्री महेन्द्रनाथ गुप्त हेडमास्टर थे। यहीं बाबूराम की मैत्री राखाल (बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द) के साथ हुई, जो उनके सहपाठी थे। शीघ्र ही दोनों में घनिष्ठता हो गयी। राखाल तब तक श्रीरामकृष्ण के दिव्य प्रेम में बँध चुके थे और दक्षिणेश्वर के मन्दिर में जाने लगे थे।

बाबूराम की बहन कृष्णभाविनी का विवाह कलकत्ते के बलराम बसु से हुआ था। इस विवाह ने परिवार को श्रीरामकृष्ण के समीप ला दिया। सम्भव है कि बाबूराम ने बलराम बसु से ही पहली बार श्रीरामकृष्ण के बारे में सुना हो। बाबूराम के बड़े भाई तुलसीराम बलराम के साथ श्रीरामकृष्ण के दर्शनार्थ गये थे। बाबूराम की साधु-वृत्ति देख उन्होंने उन्हें दक्षिणेश्वर के उन सन्त से मिलने की सलाह दी। तुलसीराम ने उन्हें बताया कि वे ऐसे महात्मा हैं, जो चैतन्यदेव के समान ईश्वर का नाम सुनते ही अपनी बाह्य चेतना खो बैठते हैं।

इस वार्तालाप के बाद शीघ्र ही दैवयोग से बाबूराम को जोड़ासाँको की एक 'हरिसभा' (वैष्णवों की एक सभा, जिसमें धर्मग्रन्थों का पाठ होता है) में श्रीरामकृष्ण के दर्शन हो गये।[१] बाबूराम वहाँ भागवत-कथा सुनने गये थे। सम्भवत: वे बलराम बसु के घर में रहनेवाले अपने मित्र रामदयाल चक्रवर्ती के साथ वहाँ गये थे। सम्भवत: वसन्त ऋतु का एक अपराह्न था। श्रीरामकृष्ण श्रोताओं के बीच बैठे हुए थे। बाबूराम ने देखा कि जब कभी श्रीरामकृष्ण के मुख से कोई उद्‌गार निकलता है, तो उनके पास बैठे भक्तगण बड़े गौर से उसे सुनते हैं। विद्वान् वक्ता के पाठ पर श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त टिप्पणियाँ बड़ी अभिव्यंजक थीं। फिर श्रीरामकृष्ण को नि:स्पन्दित बैठे देखकर तो बाबूराम विस्मय से परिपूर्ण हो उठे। वे बाह्य जगत् से दूर कहीं खोये हुए-से थे। लगता था मानो उनका श्वास-प्रश्वास भी बन्द हो गया हो। उनका मुखमण्डल एक मोहक मुस्कान से दमक रहा था। मानो वे कोई अपूर्व दर्शन कर रहे हों। बाबूराम को उसके साथी ने बतलाया कि श्रीरामकृष्ण समाधि में हैं। वे उस अवस्था में काफी देर तक रहे।[२] सन्त की समाधि अवस्था के दर्शन और उनके मधुर शब्दों ने बाबूराम के मस्तिष्क पर एक अमिट छाप छोड़ दी। उस संध्या को वे श्रीरामकृष्ण के विषय में और अधिक जानने की उत्सुकता लेकर घर लौटे। बाबूराम तब कलकत्ते के कम्बुली टोला में एक किराये के मकान में रहते थे।

दूसरे दिन जब स्कूल में बाबूराम की राखाल से भेंट हुई, तो उन्होंने वह प्रसंग उठाया और पूछा, "अच्छा, क्या दक्षिणेश्वर में कोई महात्मा रहते हैं?"

राखाल – "हाँ, क्या तुम उनके दर्शन करना चाहते हो?"

बाबूराम – "हाँ, जरूर! क्या तुमने उनके दर्शन किये हैं? वे किस तरह के आदमी हैं?"

राखाल – "हाँ, मैंने उनसे भेंट की है। एक दिन तुम स्वयं ही क्यों नहीं चलकर अपनी आँखों से उन्हें देख लेते?"

बाबूराम – "अच्छा, क्या वे वही हैं, जो कल जोड़ासाँको में पाल के यहाँ भागवत-पाठ सुनने आये थे?"

राखाल – "सम्भव है। जहाँ कहीं भी भगवत्-कथा होती है, वे चले जाते हैं। क्या अगले शनिवार तुम चलोगे?"

बाबूराम ने हामी भरी।

आगामी शनिवार को स्कूल के बाद वे दोनों दक्षिणेश्वर के लिए निकले। सम्भवत: ८ अप्रैल, १८८२ का दिन था।[३] कुछ ऐसा संयोग बना कि अहीरटोला में उन्हें रामदयाल चक्रवर्ती भी मिल गये, जो श्रीरामकृष्ण के पास जाया करते थे। उन लोगों ने दक्षिणेश्वर जाने के लिए एक नौका ली। रामदयाल अपने साथ श्रीरामकृष्ण के खाने के लिए कुछ ले जा रहे थे।

रास्ते में राखाल ने बाबूराम से पूछा कि क्या वह रात में दक्षिणेश्वर में रुकना पसन्द करेगा। बाबूराम ने यह सोचकर कि सन्त किसी छोटी-सी कुटिया में रहते होंगे, कहा, "क्या वहाँ हम लोगों के लिए जगह होगी?" राखाल ने उत्तर दिया, "हो जायेगी।" बाबूराम ने पूछा, "रात में हम लोग खाएँगे क्या?

क्या वहाँ कोई भोजनालय आदि है?'' राखाल ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, ''किसी प्रकार व्यवस्था कर लेंगे।''

जब वे लोग दक्षिणेश्वर पहुँचे, तो संध्या हो चुकी थी। गंगा के नीले जल में रक्ताभ आकाश प्रतिबिम्बित हो रहा था। गंगातट की ओर के द्वादश शिव-मन्दिरों के साथ काली-मन्दिर का उच्च शिखर अनुपम शोभा बिखेर रहा था। वहाँ के सौन्दर्य तथा शान्त परिवेश से बाबूराम मुग्ध हो गये।

मन्दिरों में दर्शन के लिए जाने से पहले वे सीधे श्रीरामकृष्ण के कमरे में पहुँचे, पर वे अपने कमरे में नहीं थे। वे कहाँ होंगे – राखाल ने अनुमान लगाया और उन लोगों को वहीं प्रतीक्षा करने के लिए कह वह श्रीरामकृष्ण की खोज में बाहर निकले। कुछ ही क्षणों बाद वे भावस्थ श्रीरामकृष्ण को खूब सावधानी से पकड़े हुए ला रहे थे। राखाल उन्हें रास्ता दिखलाते चल रहे थे; जहाँ ऊँचा-नीचा होता, वे आगाह कर देते। कमरे में प्रवेश करने के बाद भी श्रीरामकृष्ण भावावस्था में ही थे। वे छोटे तखत पर बैठे और धीरे-धीरे उनकी बाह्य चेतना लौटी।

नवागन्तुक चुपचाप थोड़ी देर तक सन्त को निहारता रहा। श्रीरामकृष्ण उस समय छियालीस वर्ष के थे, उनका कद मध्यम था। शरीर से वे कुछ क्षीणकाय थे। वे बहुत सीधे-सादे लगे। सबसे अधिक आकर्षक उनका मुखमण्डल था, जो दिव्य आनन्द से प्रदीप्त दीख पड़ता था।

श्रीरामकृष्ण ने नवागन्तुक के बारे में पूछा। रामदयाल ने उनका परिचय कराया। इससे श्रीरामकृष्ण का मुखमण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। वे बोले, ''अच्छा, तुम बलराम के रिश्तेदार हो ! तब तो तुम हमारे भी सम्बन्धी हो गये। बहुत अच्छा ! तुम्हारा घर कहाँ है?''

बाबूराम – ''तारा-आँटपुर, महाराज।''

श्रीरामकृष्ण – ''ओ ! तब तो मैं एक बार तुम्हारे गाँव जा चुका हूँ। झामापुकुर वाले कालू और भुलू उसी गाँव के हैं न?''

अपने दो मामाओं के नाम सुन बाबूराम चकित होकर कहने लगा, ''हाँ, महाराज, परन्तु आप उन्हें कैसे जानते हैं?''

– ''वे रामप्रसाद मित्र के पुत्र हैं। जब मैं झामापुकुर में रहता था, तब दिगम्बर मित्र और उनके यहाँ जाया करता था।''

यद्यपि उस समय बाबूराम की उम्र बीस से कुछ ऊपर थी, पर वे पन्द्रह से अधिक के नहीं लगते थे। फिर अपने शान्त स्वभाव और नम्र व्यवहार के कारण वे सबके प्रिय थे।[४]

इसके बाद श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, ''थोड़ा उजाले में आओ। मैं तुम्हारा चेहरा ठीक से देखना चाहता हूँ।'' वे उन्हें मिट्टी के दिये के पास ले गये और उसकी मद्धिम रोशनी में उसके अंग-प्रत्यंग के लक्षणों को अच्छी तरह से देखने लगे। ऐसा लगा कि श्रीरामकृष्ण उस जाँच से सन्तुष्ट हुए, क्योंकि उनके मुख से प्रशंसासूचक उद्‌गार निकला, ''अच्छा ! अच्छा !'' आगे उन्होंने कहा, ''अच्छा, अपना हाथ तो दिखाओ !'' उन्होंने बाबूराम के हाथ को अपनी हथेली पर रखकर तौला। इस जाँच से सन्तुष्ट होकर श्रीरामकृष्ण बोले, ''अच्छा है, सब ठीक है।'' चूँकि शारीरिक बनावट से मानसिक वृत्तियों और आध्यात्मिक सम्भावनाओं का बहुत गहरा सम्बन्ध होता है, इसलिए श्रीरामकृष्ण नवागत मनुष्य के पूर्व संस्कारों को जानने के लिए ऐसे परीक्षण किया करते थे।[५] बाबूराम ने बाद में एक पत्र में लिखा था, ''श्रीरामकृष्ण शिष्यों को कई प्रकार से जाँच-परखकर ही स्वीकार किया करते थे। ... वे अंग-लक्षण शास्त्र में निष्णात थे और इसलिए वे शिष्यों के नेत्र, हाथ, पैर आदि की बनावट परखा करते थे। वे कई तरीके जानते थे, जिनसे यह पता लग जाता था कि कोई वास्तव में सच्चा आध्यात्मिक जिज्ञासु है या नहीं।''

निःसन्देह श्रीरामकृष्ण को बाबूराम के आगमन तथा उनकी उच्च आध्यात्मिक सम्भावनाओं का पूर्वज्ञान था। एक बार उन्होंने कहा था कि प्रेम की मूर्ति श्री राधाजी ही आंशिक रूप से उसमें अवतरित हुई है। बाद में उन्होंने यह भी कहा था, ''भाव में देखा था बाबूराम एक देवीमूर्ति है, गले में हार है एवं सखियाँ साथ में हैं। उसने स्वप्न में कुछ पाया है। उसकी देह शुद्ध है। थोड़ा कुछ (साधन) करने से उसका (काम) हो जायगा।''[६] उनके चरित्र की पवित्रता के बारे में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, ''बाबूराम की हड्डी भी पवित्र है। कोई भी अपवित्र विचार उसके चित्त में कभी नहीं उठ सकता।''[७] इस प्रकार नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परखने के बाद स्वाभाविक रूप से ही श्रीरामकृष्ण का शुरू से ही उसके साथ एक विशेष हार्दिक सम्बन्ध बन गया और उन्होंने इस सम्बन्ध को सदा बनाये रखा।

उसके बाद श्रीरामकृष्ण ने रामदयाल की ओर उन्मुख होकर पूछा, ''क्या तुम जानते हो नरेन कैसा है? सुना है कि उसकी तबीयत ठीक नहीं है !''

रामदयाल – ''मैंने सुना है कि अब वह ठीक हो गया है।''

श्रीरामकृष्ण – ''देखो, बहुत दिनों से वह यहाँ नहीं आया है। उसको देखने के लिए मैं बहुत व्याकुल हूँ। उसे एक दिन यहाँ आने के लिए कहना। तुम्हें याद तो रहेगा न?''

रामदयाल – ''जरूर, मैं याद रखूँगा। मैं निश्चित रूप से उससे कह दूँगा।''

बाद में बाबूराम ने बताया था, ''कुछ घण्टे धार्मिक चर्चा में बहुत आनन्द से बीत गये।'' उस चर्चा की पूरी जानकारी अब उपलब्ध नहीं है। तब रात के दस बज गये थे। श्रीरामकृष्ण ने रामदयाल द्वारा लाये प्रचुर खाद्य सामग्री में से थोड़ा सा ही खाया। शेष उन तीनों ने बाँटकर खा लिया। भोजनोपरान्त श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा कि वे लोग कहाँ सोना पसन्द करेंगे – उनके कमरे में या बाहर बरामदे में।

राखाल कमरे में सोये, रामदयाल ने बाहर बरामदे में अपना बिस्तर लगा लिया। बाबूराम ने बाहर रामदयाल के पास सोना पसन्द किया, क्योंकि उन्होंने सोचा कि उनके अन्दर सोने से श्रीरामकृष्ण को असुविधा होगी। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अन्दर सोने के लिए फिर पूछा, पर उन लोगों ने बाहर ही सोने की इच्छा व्यक्त की। बाबूराम और रामदयाल पूर्ववाले बरामदे में लेट गये। चूँकि ग्रीष्मकाल का प्रारम्भ ही था, अत: रात में न अधिक ठण्ड थी और न अधिक गर्मी। शीघ्र ही निद्रा ने उन्हें घेर लिया।

करीब एक घण्टे बाद चौकीदारों की आपसी बातचीत से बाबूराम की नींद उचट गयी। उन्होंने उस समय एक बड़ा ही विचित्र दृश्य देखा। श्रीरामकृष्ण शराबी की तरह लड़खड़ाते हुए अपनी पहनने की धोती बगल में दबाये उन लोगों के पास आये और रामदयाल को सम्बोधित कर पूछा, "ऐ जी, सो गये?"

रामदयाल – "नहीं महाराज, अभी नहीं सोया।"

श्रीरामकृष्ण ने बहुत आकुल हो लड़खड़ाते शब्दों में कहा, "उसे एक बार भेंट कर जाने के लिए जरूर कहना। ऐसा लग रहा है मानो कोई मेरे प्राणों को निचोड़े दे रहा है।" ऐसा कहकर उन्होंने (अपनी बगल से निकालकर) कपड़ा निचोड़कर बताया कि इस तरह मेरे हृदय को कोई निचोड़ रहा है। उनकी हर उक्ति से नरेन्द्रनाथ को देखने के लिए उनकी छटपटाहट व्यक्त हो रही थी। उनकी बालक जैसी सरलता से रामदयाल परिचित थे, अत: उन्होंने कई तरह से दिलासा देते हुए कहा, "मैं कल सबेरे ही उसके पास जाऊँगा और आपको मिल आने के लिए कहूँगा। उसे बताऊँगा कि आप उसके लिए कितने आकुल हैं।"

श्रीरामकृष्ण – "हाँ, हाँ! उसके लिए मेरा चित्त बहुत व्याकुल है। उससे मिलकर उसे आने के लिए कहना।"

रामदयाल ने उन्हें भरोसा दिलाया, "जैसे ही सुबह होगी, मैं उसके पास जाऊँगा। आप चिन्तित न हों। वह ठीक ही है। जैसे ही वह आपकी आकुलता के सम्बन्ध में सुनेगा, शीघ्र ही यहाँ आ जाएगा।"

बाबूराम ने अपने मन में विचार किया – "नरेन्द्र के लिए इन महात्मा में कितना प्रेम है, कितनी तड़प है, परन्तु कितना आश्चर्य है कि नरेन्द्र की तरफ से कोई समाचार नहीं है।"[८]

श्रीरामकृष्ण अपने कमरे की ओर बढ़े, पर फिर लौटकर रामदयाल से कहने लगे, "उससे जरूर कहना, एक दिन यहाँ आने के लिए उससे जरूर कहना।" उन्होंने इन शब्दों को दुहराया और अपनी शय्या की तरफ डगमगाते कदमों से वापस चले गये। करीब एक घण्टे बाद वे फिर आये; इस बार वे और भी अधिक मतवाले लग रहे थे। वे कहने लगे, "देखो, नरेन स्वयं नारायण जैसा पवित्र है। उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। उससे विरह की वेदना इतनी अधिक है कि लगता है मानो कोई इस प्रकार मेरा हृदय निचोड़ रहा हो।" उन्होंने पुन: अपने कपड़े को इस प्रकार निचोड़कर अपनी आकुलता जतायी। वे बड़ी मुश्किल से अपने को सँभाल सके। उन्होंने पुन: कहा, "उसके लिए मेरी ऐसी अवस्था हो गयी है उसे एक बार यहाँ जरूर आना चाहिए।" इस घटना की प्राय: एक-एक घण्टे बाद रात भर पुनरावृत्ति होती रही।[९] बाबूराम और रामदयाल जो इस घटना को देख रहे थे, रात भर सो न सके।

दूसरे दिन भोर में बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण को बिल्कुल भिन्न रूप में पाया। वे अपने कमरे में बैठे हुए थे, मुखमण्डल पर आनन्द और शान्ति दिखायी पड़ रही थी, यह दृश्य पिछली रात से सर्वथा भिन्न था। श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम को पंचवटी घूम आने को कहा। वहाँ पहुँचकर वे आश्चर्य-विभोर हो उठे, क्योंकि वे अपने बचपन के दिवा-स्वप्नों में इसी तरह के स्थान की कल्पना किया करते थे।[१०] वृक्षों का वह झुरमुट और कुटिया उन्हें बड़ी परिचित-सी लगी। वैसे उन्होंने यह बात किसी से कही नहीं और श्रीरामकृष्ण के पास लौट आये। उनके पूछने पर उन्होंने सिर्फ इतना कहा कि स्थान बहुत ही अच्छा है। तब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें काली-मन्दिर के दर्शन कर आने को कहा। उन्होंने वैसा ही किया और लौटकर विदा माँगी। उनकी चरण-धूलि लेकर वे ज्योंही जाने को उद्यत हुए कि श्रीरामकृष्ण ने अपनी विशिष्ट सम्मोहक मुस्कान के साथ कहा, "क्यों फिर आएगा न?" बाबूराम ने हामी भरी और राखाल को छोड़कर, जो श्रीरामकृष्ण के पास रुकनेवाले थे, वे कलकत्ते लौट गये। यात्रा अविस्मरणीय थी। श्रीरामकृष्ण ने ऐसा कुछ किया था, जिसे बाबूराम व्यक्त नहीं कर सकते थे, पर जिसका उन पर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा था, जिसे भूलना सम्भव नहीं था, जैसे पूनम के चाँद को एक बार देख लेने पर उसे भुलाना सम्भव नहीं होता। श्रीरामकृष्ण उन्हें माधुर्य की प्रतिमूर्ति प्रतीत हुए थे।"[११]

कहानी आगे बढ़ती है कि बाबूराम उसके बाद वाले रविवार को ही दक्षिणेश्वर आते हैं और देखते हैं कि नरेन्द्र, राखाल और अन्य लोग पंचवटी में पिकनिक मना रहे हैं। बाबूराम का नरेन्द्र से परिचय हुआ। नरेन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा और मधुर स्वभाव ने जल्दी ही बाबूराम को जीत लिया।

अब बाबूराम बारम्बार दक्षिणेश्वर आने लगे। उन्हें स्कूल और घर नीरस एवं अरुचिकर लगने लगे। श्रीरामकृष्ण का पितृवत् स्नेह इस युवक के हृदय में छा गया और वे उनके स्नेहपाश में बँध गये। बाद में बाबूराम ने कहा था, "वे (श्रीरामकृष्ण) करुणा की प्रतिमूर्ति थे। उनकी कृपा की मैं थाह नहीं पा सकता।" जगदम्बा के प्रति श्रीरामकृष्ण के समर्पण को देख वे कम प्रभावित नहीं हुए थे; क्योंकि बाद में उन्होंने कहा था, "उन्होंने जगदम्बा को वैसे ही अपना बकलमा दे दिया था, जैसे कि गिरीश बाबू (गिरीशचन्द्र घोष) ने श्रीरामकृष्ण को अपना बकलमा दिया था।"[१२] धीरे-धीरे बाबूराम के भीतर यह धारणा दृढ़ होने लगी कि श्रीरामकृष्ण से उनका सम्बन्ध इसी जन्म का नहीं, वरन् शाश्वत है। वे अपने हृदय में यह अनुभव करने लगे

कि वे श्रीरामकृष्ण के अपने हैं।[१३] उनके साथ रहने की इच्छा उनमें बलवती हो उठी। अन्त में एक संयोग ऐसा आया, जिसने उनकी समस्या सुलझा दी। एक दिन बाबूराम की माँ, जो स्वयं श्रीरामकृष्ण की बड़ी भक्त थीं, श्रीरामकृष्ण के दर्शनार्थ आयीं। तब श्रीरामकृष्ण ने उनसे बाबूराम को उनके पास छोड़ देने को कहा। भक्तिमती माता ने बेहिचक इसके लिए अपनी सहर्ष अनुमति दे दी। इसके बाद से बाबूराम सदा श्रीरामकृष्ण के पास रहने लगे। कुछ वर्षों बाद जब उन्होंने संन्यास ग्रहण किया, तब से वे 'स्वामी प्रेमानन्द' के नाम से परिचित हुए। इसके बाद जब वे भक्तों के बीच परिचित होने लगे, तब उन लोगों ने उनमें सचमुच ही इस दैवी प्रेम के आनन्द को प्रकट होते अनुभव किया था। भक्तों ने देखा कि उनके पास अपना कुछ नहीं है और वे अपने लिए कुछ चाहते भी न थे, क्योंकि वे श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द से परिपूर्ण थे। ❑❑❑

---

१. वैकुण्ठनाथ सान्याल (श्रीरामकृष्ण-लीलामृत, बँगला, पृ.३०८) के अनुसार, बाबूराम ने ठाकुर को पहले बलराम बसु के घर में देखा था। अन्य स्रोतों के लिए देखें – 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' (सं. १९८६, पृ. १/१७०) तथा गुरुदास बर्मनकृत 'श्रीरामकृष्ण-चरित' (बँगला), कलकत्ता, खण्ड १, पृ. २६४-५। इसमें जोड़ासाँको की हरिसभा में बाबूराम की ठाकुर से भेंट का सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।

२. स्वामी नित्यात्मानन्द, श्री म दर्शन (बँगला), भाग ४, पृ. ११८

३. गुरुदास बर्मन (वही, पृ. २६८) के अनुसार यह यात्रा चैत्र (मार्च-अप्रैल) में हुई थी। स्वामी सारदानन्द 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' (नागपुर, भाग ३, द्वितीय सं., पृ.९१) में कहते हैं, "श्रीरामकृष्ण के पास नरेन्द्रनाथ के आगमन के कुछ दिनों बाद स्वामी प्रेमानन्द दक्षिणेश्वर आ गये थे। नरेन्द्र सर्वप्रथम नवम्बर, १८८१ में उनके पास आये थे। (वही, पृ.५०)। 'म' 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (नागपुर, भाग १, चतुर्थ सं., पृ. १०५) में कहते हैं, "बाबूराम अभी एक-दो ही बार दर्शन कर गये हैं," (२२ अक्तूबर १८८२)। मानदा शंकर दासगुप्ता कृत 'युगावतार श्रीरामकृष्ण' (बँगला, पृ. ३७३) के अनुसार वह भाद्र-आश्विन (सितम्बर) का महीना था; आजकल के अन्य कई प्रसिद्ध लेखकों ने भिन्न-भिन्न तिथियाँ दी हैं – यथा 'स्वामी प्रेमानन्द – टीचिंग्ज एण्ड रेमिनिसेंसेज' (अंग्रेजी, स्वामी प्रभवानन्द, अद्वैत आश्रम, १९७०, पृ.५) के अनुसार 'नवम्बर १८८२'; स्वामी अशोकानन्दकृत 'स्वामी प्रेमानन्द' (अंग्रेजी, वेदान्त सोसायटी आफ नार्दर्न कैलिफोर्निया, १९७०, पृ.४) के अनुसार '१८८२ का पतझड़ का मौसम था।' इन विभिन्न ग्रन्थों तथा अधिक पुराने ग्रन्थों एवं पाण्डुलिपियों को देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह यात्रा १८८२ के चैत्र महीने में किसी शनिवार को हुई थी। सम्भवत: वह तिथि २ अप्रैल थी।

४. स्वामी अशोकानन्द (वही, पृ. ३) वयस्क प्रेमानन्द के बारे में लिखते हैं, "उनका शरीर बाण की तरह बहुत तना हुआ था। वे बहुत ऊँचे तो न थे, शायद पाँच फुट आठ इंच रहे होंगे – और दुबले-पतले थे। उनका रंग स्वर्ण की भाँति था, (अमेरिका में) – तुम लोगों ने इस प्रकार का रंग कभी नहीं देखा होगा। जब वे भावावस्था में होते, जैसा कि अक्सर होता, उनका मुखमण्डल और शरीर का ऊपरी भाग तपे सोने के समान दमकने लगता; वह बड़ा ही अद्‌भुत दृश्य होता।"

५. सारदानन्द – "किसी व्यक्ति के पास आते ही वे उसकी ओर एक विशेष प्रकार का निरीक्षण करते थे। फिर यदि उसके प्रति उनका चित्त कुछ भी आकृष्ट होता, तो उससे साधारण भाव से धर्मालाप करते थे और उसे अपने पास आने-जाने के लिए कहते थे। जितने दिन बीतते जाते और वह व्यक्ति उनके पास आता-जाता रहता, उतना ही वे उसके अनजाने ही उसके शारीरिक अंग-प्रत्यंग के गठन, मानसिक भाव, कामिनी-कांचन में आसक्ति और भोग-तृष्णा का परिणाम देखते रहते। उनके प्रति उसका मन कहाँ तक प्रकाशित हुआ है, उस पर सावधान दृष्टि रखकर उसके भीतर की सुप्त आध्यात्मिकता आदि के विषय में एक निश्चित धारणा पर पहुँचते थे।... उसके अनन्तर उस व्यक्ति के मन की कोई निगूढ़ बात जानने का प्रयोजन होने पर वे उसे अपनी योगदृष्टि से जान लेते थे।" (वही, पृ.१२६)

६. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, पंचम संस्करण, पृ. १५५

७. वही, पृ. २२३, 'म' और ठाकुर के बीच हुए इस वार्तालाप से उसके बारे में ठाकुर की धारणा और स्पष्ट हो जायगी, "बाबूराम का घर कहाँ है, यह मैं कल समझा। इसलिए तो इसे रखने की इतनी कोशिश कर रहा हूँ। चिड़िया समय समझकर अण्डे फोड़ती है। बात यह है कि ये सब शुद्धात्मा लड़के हैं कभी कामिनी और कांचन में नहीं पड़े। है न?... "नयी हण्डी है, दूध रखा जाय तो बिगड़ नहीं सकता।" "बाबूराम के यहाँ रहने की जरूरत भी है। कभी-कभी मेरी अवस्था ऐसी हो जाती है कि ऐसे आदमियों का रहना जरूरी हो जाता है।"

८. बाद में स्वामी प्रेमानन्द कहा करते थे, "मैं तुम्हें भला क्या प्रेम दे सकता हूँ? श्रीरामकृष्ण से मिले प्रेम का सौवाँ भाग भी नहीं। अहा, वे हम लोगों से कितना प्रेम करते थे!" (Swami Premananda – Teachings and Reminiscences, p.139) वे कहते, "मैं तो ठाकुर के प्रेम में बँधकर उनका गुलाम बन गया हूँ; अपने प्रेम द्वारा उन्होंने हम सबको बाँध लिया था। वे अन्दर-बाहर प्रेम ही प्रेम थे। यहाँ तक कि उनकी गाली भी उनके प्रेम से निकलती थी।" (वही, पृ. ५१)

९. गुरुदास बर्मन (वही, पृ. २६८-७०) के वर्णन पर आधारित।

१०. 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' (भाग १, पृ. २१०), "आठवें वर्ष में वे कल्पना करते कि लोगों की दृष्टि से ओझल किसी संन्यासी के साथ वृक्षलतावृत एक-छोटे से आश्रम में काल व्यतीत कर रहे हैं।"

११. स्वामी प्रेमानन्द का २६/६/१९१४ का पत्र (Teachings and Reminiscences, p. 221-2) : "हमारे ठाकुर ने अपने जीवन के शुरू से अन्त तक अपनी दैवीलीला का माधुर्य प्रकट किया था। उन्होंने कभी किसी अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया। ठाकुर की लीला, आद्योपान्त, माधुर्य का ही प्रकटीकरण थी; वे माधुर्य की मूर्ति ही थे।"

१२. स्वामी प्रेमानन्द : 'श्रीरामकृष्णदेव' (बँगला), तृतीय संस्करण।

१३. उन्होंने १५/८/१९१५ को स्वामी अभेदानन्द को लिखा था। (Teachings and Reminiscences, p. 194) : "क्या तुम्हें याद है, जब हम दोनों काशीपुर उद्यान में थे और ठाकुर ने कहा था, 'तुम लोगों का सम्बन्ध आत्मा का आत्मा से है'? भाई, सदा याद रखो हम बन्दर के समान हैं, जिन्हें वे नचा रहे हैं। उनके रामावतार के समय हम लोगों की पूँछें थीं; इस बार अन्तर इतना ही है कि हम पूँछविहीन हैं!"

रामकृष्ण-भावधारा : एक विहंगम दृष्टि (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(रामचरितमानस के प्रसिद्ध कथाकार श्री मोरारी बापू ने गुजरात के महुआ ग्राम में जनवरी, २००९ में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वधर्म-सम्मेलन' का आयोजन किया था, जिसमें श्री दलाईलामा से लेकर देश-विदेश के अनेकों धर्मावलम्बियों ने भाग लेकर अपने धार्मिक सद्भाव पूर्ण विचार प्रकट किये थे। श्री मोरारी बापू के हार्दिक आग्रह एवं बेलूड़ मठ के निर्देश पर रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि के रूप में, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद इस सम्मेलन में पधारे तथा श्री बापूजी के निवेदन पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुमोदित सर्वधर्म-समन्वय का संदेशक 'रामकृष्ण-भावधारा' पर अपना महत्वपूर्ण सर्वजनहितकारी व्याख्यान दिया। हम उसी जनप्रिय व्याख्यान को 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। इसका सी.डी. से अनुलिखन रायपुर के श्रीदुर्गेश ताम्रकार और कामिनी ताम्रकार ने किया तथा संपादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। - सं)

अब आप देखें, आज जो श्रीरामकृष्णदेव हमारे-आपके आदर्श हैं और युग को उनकी आवश्यकता है, उन श्रीरामकृष्णदेव ने जब पूजा प्रारम्भ की, तो उनके मन में विचार आया कि क्या माँ काली, माँ भवतारिणी केवल पत्थर की प्रतिमा हैं? श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी माँ काली से पूछा कि माँ, क्या तू पत्थर की प्रतिमा है? यदि तू पत्थर की प्रतिमा है, तो मैं तेरी पूजा क्यों करूँ? पर मैंने सुना है कि तू ने भक्त कमला-कान्त को, रामप्रसाद को तथा अन्य अनेक भक्तों को दर्शन दिया था। मुझमें ही कोई कमी है, इसलिये तू मुझे दर्शन नहीं दे रही है। अब यहाँ आप देखिये, इस युग में या प्राचीन सैकड़ों-हजारों वर्षों में श्रीरामकृष्णदेव पहले ऐसे पुजारी थे, जिन्होंने देवता में दोष न देखकर स्वयं के दोष को देखा।

आज भी हम लोगों में से कुछ लोग कहते हैं कि अरे, उस पत्थर की देवी में रखा क्या है ! अरे भाई, हमारा हृदय पत्थर है, इसलिए मंदिर का देवता हमको पत्थर लगता है। जिसके हृदय में चैतन्य की अनुभूति हो गयी हो, उसे पत्थर क्या, पृथ्वी का कण-कण चैतन्य, परमात्मा से ओत-प्रोत दिखता है। श्रीरामकृष्ण देव ने सोचा कि माँ केवल पत्थर की मूर्ति नहीं हो सकती और यदि पत्थर नहीं है, तो फिर दर्शन क्यों नहीं देती? इस प्रकार वे व्याकुल होकर माँ से प्रार्थना करने लगे। कोई गुरु नहीं, कोई मार्ग दर्शक नहीं, किन्तु हृदय में ऐसी तीव्र व्याकुलता कि कैसे मुझे माँ काली के दर्शन मिलें। माँ काली से उनका तात्पर्य ईश्वर से था। वे दर्शन हेतु व्याकुल हो गये। कब सुबह हुई, कब शाम हुई, इसका उन्हें होश नहीं रहता था। खाने-पीने का कुछ भी होश नहीं। बारह वर्षों तक वे सोये नहीं, मछली की तरह छटपटाते रहे।

एक दिन उनको ऐसा लगा कि माँ काली के दर्शन के बिना या भगवत्-प्राप्ति के बिना यह जीवन वृथा है। ऐसा सोचकर उन्होंने काली के मंदिर में रखे हुये खड्ग को अपने हाथ में लेकर अपना जीवन समाप्त करने का निश्चय किया। ज्यों ही उन्होंने खड्ग को हाथ में लेकर अपने गले में चलाना चाहा, त्यों ही माँ काली उनके सामने साक्षात् प्रगट हो गयीं। उनके हाथ से खड्ग छूट गया। उन्हें माँ के प्रत्यक्ष दर्शन हुये और वे माँ के दिव्यभाव में तल्लीन हो गये।

आपसे एक बात निवेदन करूँ। हम कैसे जानेगें कि आत्मा है, भगवान हैं, ईश्वर हैं? भगवान शंकराचार्य कहते हैं – **अनुभव अवसानत्वात्**। साधना करने से ही हमें अनुभव होगा। तब हम जान सकेंगे कि भगवान हैं कि नहीं। श्रीरामकृष्णदेव ने अनुभव किया और अनुभव करने के पश्चात् उन्होंने देखा कि माँ इस जगत् से, इन पंचेन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान से अधिक सत्य हैं। जिन इन्द्रियों से हमको लौकिक ज्ञान सत्य लगता है, उनसे अनन्त गुणा अधिक आध्यात्मिक सत्य का अनुभव होता है, जो व्यक्ति के जीवन में अमूल-चूल परिवर्तन कर देता है। इस प्रकार के सत्य का श्रीरामकृष्ण ने अनुभव किया। इस अनुभव के बाद उन्होंने विभिन्न धर्मों तथा हिन्दू धर्म के ६४ तंत्रों की भी साधना करके उनकी सत्यता का अनुभव किया था। भैरवी नामक ब्राह्मणी गुरु बनकर दक्षिणेश्वर में आईं तथा उन्हें तंत्रों की साधना करायीं। अद्वैत वेदान्त के ज्वलन्त मूर्त-स्वरूप तोतापुरी जी भी दक्षिणेश्वर में आये तथा उन्होंने अद्वैत वेदान्त की साधना कराई। श्रीरामकृष्ण की समाधि को देखकर तोतापुरी जी कहते हैं कि नर्मदा के तट पर तपस्या कर जिस निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करने में मुझे ४० वर्ष लगे थे, उसे मेरे शिष्य रामकृष्ण ने एक दिन में प्राप्त कर लिया। ज्यों ही तोतापुरी जी ने उन्हें ध्यान की प्रक्रिया बतायी, त्यों ही वे समाधि में डूब गये और तीन दिन, तीन रात तक निर्विकल्प समाधि में डूबे रहे। तोतापुरी जी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने दूसरे दिन कुटिया खोलकर देखा, जिस प्रकार शिष्य को बिठाया था, उसी प्रकार बैठा है। उसके शरीर में जीवन का कोई लक्षण नहीं है। तोतापुरी जी महाज्ञानी थे। उन्होंने परीक्षण करके देख लिया कि इसे निर्विकल्प समाधि हुई है। फिर महायोगी तोतापुरी जी ने रामकृष्ण को सामान्य भूमि पर लाया। फिर उनकी दिनचर्या चली। तोतापुरी जी का नियम था कि वे किसी भी जगह तीन दिन से ज्यादा नहीं रहते थे। लेकिन दक्षिणेश्वर के मंदिर में तोतापुरी जी इस अद्भुत शिष्य

के आकर्षण से ११ महीने रह गये तथा उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव को अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठित किया।

इसके बाद श्रीरामकृष्ण देव ने माँ काली से कहा कि माँ तेरी तंत्र की साधना और अद्वैत-साधना को तो मैंने समझ लिया कि इससे कैसे जीवन में ईश्वर-प्राप्ति होती है, पर ये जो मेरे मुसलमान भाई हैं, जो ईश्वर को अल्लाह कहकर पुकारते हैं, वे ईश्वर को किस प्रकार पाते हैं? उनके मार्ग से जाने पर कैसे और क्या अनुभूति होती है, यह मैं जानना चाहता हूँ! यह ईश्वरीय योजना थी, माँ जगत्जननी की योजना थी। अत: उस समय गोविन्द राय नामक एक सूफी मुसलमान फकीर वहाँ आये। अपने पूर्व आश्रम में वे क्षत्रिय थे। उनको पारसी व अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान था। अरबी-भाषा में कुरान को पढ़कर उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इस्लाम धर्म के बारे में जैसे अभी शाही इमाम साहब ने आपको बताया। गोविन्द राय जी सूफी परम्परा के थे। दक्षिणेश्वर के मंदिर में जिस प्रकार हिन्दु-सन्तों की भीक्षा और रहने आदि की व्यवस्था थी, उसी प्रकार मुसलमान फकीरों के लिये भी वे सुविधायें उपलब्ध थीं। सूफी फकीर गोविन्द राय किसी समय दक्षिणेश्वर में आये। उनकी निष्ठा देखकर श्रीरामकृष्णदेव बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने उनसे कहा कि मैं इस्लाम धर्म की भी साधना करना चाहता हूँ, मुझे दीक्षा दीजिए। तब विधिवत् श्रीरामकृष्ण ने इस्लाम धर्म की दीक्षा ली और तीन दिनों में ही अल्लाह नाम का जप करते हुए इस्लाम धर्म के अनुसार चरम उपलब्धि प्राप्त की। तभी उन्हें एक दिव्य पुरुष के दर्शन हुए और उसके बाद वे दिव्य पुरुष अंतर्ध्यान हो गये तथा वे अद्वैत भाव में डूब गये। उसमें डूबने के बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि इस्लाम के मार्ग से भी मनुष्य वहीं पहुँचता है, जहाँ वेदान्त के मार्ग से पहुँचता है।

उन्होंने ईसाई धर्म की भी साधना की तथा भगवान ईसा मसीह ने उनको दर्शन दिये। वहाँ भी उन्होंने वही अनुभव किया कि ईसाई धर्म के द्वारा भी मनुष्य वहीं पहुँचता है।

श्रीरामकृष्णदेव का अवतार सभी धर्मों की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए हुआ था। ग्रामीण बंगला भाषा में उन्होंने कहा – 'जतो मत ततो पथ' – जितने मत हैं, उतने पथ हैं। इस बात को वे एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त से समझाते हैं। वे कहते हैं। जैसे एक बड़ा तालाब है। उस तालाब के एक घाट में एक व्यक्ति पानी पी रहा है और उसे 'पानी' कहता है। दूसरे घाट पर एक व्यक्ति पानी पीता है और उसे 'जल' कहता है। तीसरे घाट पर एक आदमी पानी पीता है और उसे 'एक्वा' कहता है। चौथे घाट पर एक व्यक्ति पानी पीता है और उसे 'वाटर' कहता है। वस्तु एक पानी ही है, लेकिन उसके नाम अलग-अलग हैं। उसी प्रकार ईश्वर एक हैं, किन्तु उनके नाम अनेक हैं। इसलिए वे कहते हैं कि झगड़ा मत करो। उसे अनुभव करने का प्रयत्न करो। धर्म अनुभूति की वस्तु है। धर्म केवल शास्त्र-चर्चा का विषय नहीं है। धर्म बहस का विषय नहीं है। धर्म इस प्रकार शास्त्रार्थ के आयोजन करने के लिये नहीं है। उसका एक ही तात्पर्य है कि हम जीवन में धर्म का आचरण करने का प्रयत्न करें।

उस धर्म की अनुभूति कैसे होगी? भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने कहा कि जब तक तुम्हारा चित्त शुद्ध नहीं होगा, तब तक तुम्हें आध्यात्मिक अनुभूति नहीं हो सकती, चाहे तुम भारत और संसार के सभी शास्त्रों में पारंगत क्यों न हो जाओ। तुम्हारे जीवन में उससे कुछ लाभ नहीं होगा। तुम्हें लाभ तो तभी होगा, जब तुम जिस ब्रह्म की चर्चा करते हो, जिस अल्लाह की चर्चा करते हो, जिस ईसा की चर्चा करते हो, जिस शिव-पार्वती की चर्चा करते हो, जिस जिनेन्द्र की चर्चा करते हो, जिस कैवल्य ज्ञान की चर्चा करते हो, उसका अनुभव करो। क्या तुमको उसकी अनुभूति हुई है? यदि तुम्हें अनुभूति हुई है, तो तुम्हारे जीवन में अमूल-चूल परिवर्तन हो जायेगा। फिर तुम्हें उससे अलग दूसरा कुछ दिखेगा ही नहीं –

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है,
बाहर भी तू है और भीतर भी तू है।
तेरी नूर की ही सभी रोशनी है,
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।।

जब व्यक्ति को ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब वह सर्वत्र भगवान को ही देखने लगता है। फिर उसका किसी से विरोध नहीं रहता। वह किसी की निन्दा नहीं करता। वह सबसे प्रेम करता है।

इसी उच्च स्थिति में जाकर भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने कहा कि संसार के सभी धर्म ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग हैं। तुम अपने धर्म को सही मानकर उस पर चलो, पर दूसरे धर्म की कभी निंदा मत करो। अपने मार्ग पर अगर आप चलते हैं, तो गंतव्य पर पहुँच जायेंगे।

यदि कोई व्यक्ति पूर्व की ओर से चल रहा है, कोई पश्चिम की ओर से चल रहा है, कोई उत्तर की ओर से चल रहा है और कोई दक्षिण की ओर से चल रहा है, यदि वे एक केन्द्र पर आना चाहते हैं, तो अन्त में ये सभी एक ही स्थान पर पहुँचेंगे। स्वामी विवेकानन्द ने उदाहरण दिया है। जैसे एक वृत्त से केन्द्र की ओर कोई उत्तर से, कोई दक्षिण से, कोई पूरब से और कोई पश्चिम से चलता, जो कि विरोधी दिशायें हैं। किन्तु अन्त में सभी केन्द्र पर ही पहुँचते हैं। इसलिए दुनिया में धर्म के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विवाद करना अनुचित है। जीवन में धर्म के आचरण की आवश्यकता है।

(शेष आगामी अंक में)

❑❑❑❑❑❑❑❑❑

संस्कृत साहित्य और श्रीरामकृष्ण-भावधारा

स्वामी विदेहात्मानन्द

संस्कृत भाषा की महिमा

प्राचीन काल से ही संस्कृत भारत की आधारभूत तथा शास्त्रीय भाषा रही है। यही हिन्दू, बौद्ध, जैन तथा सिख धर्मों के कर्मकाण्ड तथा उपासना का माध्यम है और भारतवर्ष की २३ राजभाषाओं में से एक है। दक्षिणी तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में इसे एक केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। विश्व की अधिकांश प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएँ इसी की शाखा-प्रशाखाएँ हैं और कोई भी भाषा इसके गहन प्रभाव से नहीं बच सकी है। आज के आधुनिकतम कम्प्यूटर वैज्ञानिक भी अपने साफ्टवेयर के भावी विकास हेतु इसी भाषा की संरचना का अध्ययन कर रहे हैं।

शाब्दिक दृष्टि से 'संस्कृत' का अर्थ है – जिसका शोधन, परिष्करण या संस्कार किया गया हो। संस्कृत को देवभाषा भी कहते हैं। अति प्राचीन – प्रागैतिहासिक काल से ही यह भाषा अखिल भारतीय ज्ञान-सम्पदा की वाहक रही है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "संस्कृत ईश्वर की भाषा है,... देवभाषा है"[१] और "संस्कृत भाषा सभी लोगों द्वारा समस्त यूरोपीय भाषाओं की आधार स्वीकार की जाती है ...।"[२]

"केवल भारत में ही मनुष्य-जाति का सर्वोच्च आदर्श उपलब्ध है; और आज कितने ही पाश्चात्य विद्वान् हमारे इस आदर्श को समझने की चेष्टा कर रहे हैं, जो हमारे संस्कृत-साहित्य तथा दर्शन-शास्त्रों में निहित हैं। युगों से भारत की यही विशेषता रही है।"[३]

अत: इस भाषा को उसका यथायोग्य महत्त्व प्रदान किये बिना, केवल भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व की सभ्यता व संस्कृति को परिपूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती। संस्कृत साहित्य के बौद्धिक सम्पदा सबके लिये सुलभ कराकर इस दिशा में काफी दूर तक अग्रसर हुआ जा सकता है।

भारत के विषय में स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि संस्कृत भाषा की सहायता के बिना भारत की अन्तरात्मा को समझा ही नहीं जा सकता; और साथ ही संस्कृत साहित्यिक परम्परा में निहित ज्ञान तथा सांस्कृतिक भावों को समझे बिना भारत का पुनरुत्थान भी सम्भव नहीं हो सकेगा। इसीलिये उन्होंने अपने देशवासियों को बारम्बार आह्वान करते हुए कहा कि वे संस्कृत की शिक्षा को उचित महत्त्व प्रदान करें। उन्होंने कहा था – "लोगों की बोलचाल की भाषा में विचारों की शिक्षा देनी होगी। साथ ही संस्कृत की भी शिक्षा अवश्य होती रहे, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक तरह का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त हो जाता है। महान् रामानुज, चैतन्य और कबीर ने देश की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था, उसमें इन महान् धर्माचार्यों के अपने ही जीवन-काल में अद्भुत सफलता मिली थी। किन्तु उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ, ... उसका कारण यह है – उन्होंने नीची जातियों को उठाया था। वे सब चाहते थे कि ये उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायँ, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगायी। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का अध्ययन बन्द कर दिया। वे तुरन्त फल पाने के इच्छुक थे, इसलिए उन्होंने संस्कृत से उस समय की भाषा पाली में अनुवाद करके उन विचारों का प्रचार किया। यह काम बहुत ही सुन्दर हुआ था, जनता ने उनका अभिप्राय समझा, क्योंकि वे जनता की बोलचाल की भाषा में उपदेश देते थे। यह बात बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले और बहुत दूर-दूर तक पहुँचे। किन्तु इसके साथ-साथ संस्कृत का भी प्रचार होना चाहिए था। ज्ञान का विस्तार हुआ अवश्य, पर उसके साथ-साथ 'गौरव-बोध' और 'संस्कार' नहीं बने। ... तुम संसार के सामने प्रभूत ज्ञान रख सकते हो, पर इससे उसका विशेष उपकार न होगा। संस्कार को रक्त में व्याप्त हो जाना चाहिए।"[४]

श्रीरामकृष्ण का संस्कृत-ज्ञान

आम तौर पर ऐसा मानते हैं कि श्रीरामकृष्ण पूरी तौर से निरक्षर भट्टाचार्य थे, परन्तु यह बात आंशिक रूप से ही सत्य है। यद्यपि वे आज के मापदण्डों से शिक्षित नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनकी औपचारिक पढ़ाई-लिखाई की गाड़ी अधिक आगे नहीं बढ़ सकी थी, तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि पढ़ने तथा लिखने का प्रारम्भिक ज्ञान हो चुका था। उनके ज्येष्ठ भ्राता रामकुमार चट्टोपाध्याय कलकत्ते में एक संस्कृत पाठशाला चलाया करते थे। वे तरुण आयु के अपने भाई को भी अपने कार्य में सहायता हेतु वहीं ले आये थे। ऐसी सम्भावना है कि श्रीरामकृष्ण जैसे मेधावी व्यक्ति ने सहज ही संस्कृत भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान सहज भाव से ही

१. The Complete Works of Swami Vivekananda, 6th Subsidized edi., Vol. 3, p. 513; विवेक-ज्योति (मासिक), वर्ष ४०, अंक १, (जनवरी २००२) पृ. १६

२. विवेकानन्द-साहित्य, मायावती, सं.२००७, खण्ड १०, पृ.२८४-५

३. वही, खण्ड ५, पृ. ३६

४. वही, खण्ड ५, पृ. १८४

अर्जित कर लिया हो। दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में पुजारी का कार्यभार सम्भालने के उपरान्त के मंत्रों तथा स्तोत्रों आदि की आवृत्ति उनका अर्थ समझकर ही करते थे। परवर्ती काल में दक्षिणेश्वर में आनेवाले अनेक शास्त्रज्ञ साधु-सन्तों तथा विद्वानों के सान्निध्य से उन्हें इस देवभाषा में निबद्ध शास्त्रों का अच्छा ज्ञान हो गया था। उनकी जीवनी-ग्रन्थ से हमें ज्ञात होता है कि एक बार सुप्रसिद्ध 'शिव-महिम्न-स्तोत्रम्' का पाठ करते हुए उसके अर्थ के साथ ऐसे तन्मय हो गये कि उनकी बाह्य चेतना ही लुप्त हो गयी थी। उनके जीवनीकार स्वामी सारदानन्द इस घटना का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

''श्रीरामकृष्ण एक दिन शिव-मन्दिर में जाकर 'महिम्न:स्तोत्र' का पाठ करते हुए महादेवजी की स्तुति करने लगे। जब उन्होंने निम्नलिखित श्लोक की आवृत्ति की, उस समय वे अपूर्व भाव से आविष्ट होकर पूर्णत: आत्मविह्वल हो उठे –

असित-गिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुर-तरुवर-शाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।

– ''हे शिवजी, समुद्र जैसा विशाल पात्र हो, जिसमें हिमालय जैसा स्याही का पुंज घोला जाय, कल्पवृक्ष की शाखा लेखनी हो, समस्त पृथ्वी कागज हो और साक्षात् देवी सरस्वती अनन्त काल तक स्वयं लिखती रहें; तो भी हे प्रभो, आपके गुणों का ओर-छोर नहीं पाया जा सकता।''

''इस श्लोक का पाठ करते हुए श्रीरामकृष्णदेव अपने हृदय में शिव-महिमा का ज्वलन्त अनुभव करके पूर्णत: विह्वल हो गये और आगे के श्लोकों की आवृत्ति करना भूलकर चिल्लाते हुए बारम्बार केवल यही कहने लगे, ''हे महादेव, तुम्हारे गुणों का मैं कैसे वर्णन करूँ!'' – साथ ही उनकी आँखों की अश्रुधारा के अविच्छिन्न प्रवाह से उनका सीना, वस्त्र तथा नीचे की फर्श गीली हो गयी!''[५]

इससे स्पष्ट हो जाता है श्रीरामकृष्ण को संस्कृत भाषा का इतना ज्ञान हो चुका था कि वे उस भाषा के श्लोक सुनकर ही उसका अर्थबोध कर लेते थे। एक अन्य घटना का वर्णन करते हुए स्वामी प्रेमानन्द लिखते हैं, ''यद्यपि ठाकुर ठीक से लिख-पढ़ नहीं सकते थे, तथापि उन्हें अनेक ग्रन्थ पढ़कर सुनाये जाते और वे जो कुछ सुनते, सब याद रखते। एक बार काशीपुर के उद्यान-भवन में स्वामी रामकृष्णानन्द संस्कृत में लिखा हुआ अध्यात्म-रामायण पढ़कर उन्हें सुना रहे थे। उन्होंने ठाकुर से पूछा, 'महाराज, आप तो लिखना-पढ़ना जानते नहीं। क्या आप इस संस्कृत पाठ का कुछ समझ पा रहे हैं?' ठाकुर बोले, 'यद्यपि मैंने स्वयं संस्कृत नहीं पढ़ा है, पर बहुत सुना है। मैं हर शब्द का अर्थ जानता हूँ।' ''[६]

एक बार वे अपने एक अन्य शिष्य वैकुण्ठनाथ सान्याल को समझा रहे थे कि भक्तों की एक अलग ही जाति होती है, उनमें जातिभेद नहीं होता। इस बात को स्पष्ट करने के लिये श्रीरामकृष्ण ने उनसे 'अध्यात्म-रामायण' लाकर शबरी-प्रसंग पढ़ने को कहा। वैकुण्ठनाथ लिखते हैं, ''ग्रन्थ को खोलने के बाद मैंने उनसे पूछा कि मैं मूल श्लोकों को पढ़ूँ या उनके अनुवाद को। श्रीरामकृष्ण बोले – केवल मूल को पढ़ो। ज्ञान से विनम्रता आती है, परन्तु मुझमें उसका अभाव था। अत: मैंने अपने अहंकार में फूलकर सोचा था कि उनका भी ज्ञान मेरे ही स्तर का होगा, परन्तु वे बोले – केवल मूल को पढ़ो। सर्वज्ञ ठाकुर ने अपने शिष्य के मन की बात ताड़ ली और हल्की-सी हँसी के साथ बोले, 'लगता है आज मुझे तेरे सामने परीक्षा देनी होगी!' इसके बाद वे बोले, 'पुस्तक में देख और बता – अमुक अध्याय का पहला श्लोक ऐसा है या नहीं, पाँचवा श्लोक ऐसा है या नहीं, इसके बाद देख दूसरा, तीसरा, सातवाँ, आठवाँ और अन्तिम श्लोक ऐसा-ऐसा है या नहीं!' यह सुनकर मैं तो हक्का-बक्का रह गया। मानो जोंक के मुख पर नमक डाल दिया गया हो। वे बोले, 'तुम युवकों के आने के पहले यहाँ अनेक विद्वान् सन्त तथा पण्डित आया करते थे। उनके मुख से वेद, वेदान्त या भागवत का जो कुछ मैंने सुना, वह जगदम्बा की कृपा से सदा-सर्वदा के लिये मेरे मन में अंकित हो गया।' ''[७]

संस्कृत में रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य

आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा ने अपने काल के अनेक प्रमुख विद्वानों को संस्कृत-साहित्य की विविध विधाओं में रचनाओं के लिये प्रेरणा दी है, जिससे भावधारा तथा साहित्य – दोनों ही समृद्ध हुए हैं। यह अज्ञात काल से चली आ रही संस्कृत की साहित्यिक परम्परा का ही एक नवीन अध्याय है।

अग्रदूत – स्वामी रामकृष्णानन्द

श्रीरामकृष्ण-भावधारा से सम्बन्धित सामग्री को संस्कृत में सर्वप्रथम प्रकाशन का श्रेय जाता है 'विद्योदय' पत्रिका तथा इसके सम्पादक श्री **हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य** – (१८५०-१९१३) को। उनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है –

शास्त्रीजी लाहौर के ओरिएंटल कॉलेज में प्राध्यापक थे। वहीं से १८७१ ई. में उनके सम्पादन में यह संस्कृत मासिक पत्रिका शुरू हुई। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबन्ध-लेखन का प्रचार नहीं था। उन्होंने यह नयी विधा शुरू की। 'विद्योदय' में सामयिक समस्याओं

५. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, नागपुर, खण्ड २, सं. १९६३, पृ. १५४

६. श्रीरामकृष्ण के जेरूप देखियाछि (बँगला), सं. १९९९, पृ. ८३

७. श्रीरामकृष्ण-लीलामृत (बँगला), द्वितीय सं., कलकत्ता, पृ.६१-२

पर शास्त्रीजी के सरल और विनोदपूर्ण शैली में लेख हैं। मैक्समूलर ने भी इसकी प्रशंसा की थी। संस्कृत साहित्य में पहली बार व्यंग्य शैली का सुन्दरतम प्रयोग हुआ है। सफल सम्पादक के सारे गुणों के साथ-साथ भट्टाचार्य में साहित्यकार के गुण दीख पड़ते हैं। प्रारम्भ में 'विद्योदय' को पंजाब विश्वविद्यालय से अनुदान मिलता था, पर बाद में अनुदान बन्द होने पर इसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। अत: १८८६-८७ से इसे कलकत्ता स्थानान्तरित कर दिया गया। १९१९ में इसका प्रकाशन बन्द हो गया।[८]

इसी 'विद्योदय' पत्रिका में सर्वप्रथम स्वामी रामकृष्णानन्द द्वारा संकलित तथा संस्कृत में अनूदित होकर 'श्रीश्रीरामकृष्ण-परमहंसोपदेशावली' शीर्षक के साथ श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। इस विषय में स्वामी अपूर्वानन्द जी के पूछने पर श्रीरामकृष्ण के एक वरिष्ठ शिष्य महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) ने बताया था, "शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) संस्कृत अच्छी जानता था। एक बार उसके मन में ठाकुर के उपदेशों का संस्कृत में अनुवाद करने की इच्छा जाग्रत हुई। दोपहर का विश्राम छोड़कर वह बैठे-बैठे ठाकुर के उपदेशों को संस्कृत श्लोकों में निबद्ध करता और बाद में वह उसे पढ़कर हमें सुनाता। मुझे भी उसकी रचना अच्छी लगती थी। सुनकर सभी उन श्लोकों की प्रशंसा भी करते। वह उन्हें एक संस्कृत पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराता था। वह पत्रिका बहुत दिनों तक आलमबाजार मठ में आती रही। बाद में शशी के मद्रास चले जाने के कारण वह बन्द हो गयी।"

संस्कृत की 'विद्योदय' पत्रिका के तीन अंकों – १८९६ (पृ. १४४-४७ तथा १९३-९९) और १८९७ के जनवरी अंक (पृ. ११-१६) में 'श्रीश्रीरामकृष्ण-परमहंसोपदेशावली' का प्रकाशन हुआ। इसमें रामकृष्णानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण के कुल ४५ उपदेशों का – कुछ का पद्य, तो कुछ का गद्य में अनुवाद किया है और साथ में अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।[९]

इसके अतिरिक्त 'विद्योदय' के अप्रैल १८९७ अंक में 'विवेकानन्द-स्वामिन: प्रत्यावृति:' (स्वामी विवेकानन्द का भारत लौटना) एक सुदीर्घ लेख मुद्रित हुआ। यद्यपि लेख के साथ लेखक का नाम नहीं है, तथापि रचना-शैली आदि से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसे शास्त्रीजी ने ही लिखा है। इसमें स्वामीजी के कोलकाता आगमन, उनकी अभ्यर्थना का विस्तृत वर्णन है और १८ श्लोकों में भारतमाता का उनके प्रति उद्गार प्रदर्शित किया गया है।[१०]

श्रीरामकृष्ण-वाणी के अन्य अनुवाद

विद्योदय में प्रकाशित श्रीरामकृष्ण के उपरोक्त ४५ उपदेशों के प्रकाशन के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण के वचनामृत के दो आंशिक अनुवाद प्रकाशित हुए। इसके अतिरिक्त स्वामी अपूर्वानन्दजी के प्रयासों से श्रीरामकृष्ण के १००० उपदेशों का श्लोकबद्ध अनुवाद ग्रन्थाकार मुद्रित हुआ। आधुनिक संस्कृत साहित्य विषयक अपने शोध में श्रीधर भास्कर वर्णेकर लिखते हैं – "**श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृतम्** – शिरोमणि मुद्रणशाला, ब्रह्मपुरम्, उड़ीसा, – श्रीरामकृष्ण के घनिष्ठ शिष्य श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' द्वारा ५ भागों में रचित श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृतम्' नामक ग्रन्थ विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हुआ है। उसका प्रस्तुत अनुवाद स्वामी जगन्नाथानन्द ने किया है। इसमें मूल ग्रन्थ के ४ खण्डों के ७ भागों का संकलन किया गया है। इसका बहुत-सा अंश बीच-बीच में 'मनोरमा', 'सूर्योदय', 'सन्देश', 'संस्कृत-साहित्य-परिषत् पत्रिका' में प्रकाशित हो चुका है।"[११]

इसी ग्रन्थ का एक अन्य अनुवाद का विवरण इस प्रकार है – **श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृतम् (प्रथमो भाग:)** – प्रथम सं. १९७६, प्रकाशक – रामकृष्ण मिशन कलिकाता विद्यार्थि-आश्रम, बेलघरिया, पृ. १५६। भूमिका – स्वामी वीरेश्वरानन्द जी। इसमें ५ भागों में प्रकाशित बँगला 'कथामृत' से केवल १८८२ में हुए वार्तालापों को ही चुनकर संस्कृत में भाषान्तर किया गया है। उक्त आश्रम के सचिव स्वामी सन्तोषानन्द जी की इच्छा थी श्रीरामकृष्ण के वार्तालापों को संस्कृत में रूपान्तरित करके प्रकाशित करायें, पर उनका देहावसान हो जाने के कारण उनके उत्तराधिकारी स्वामी ध्यानात्मानन्द जी, यादवपुर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पं. विधुभूषण भट्टाचार्य तथा कोलकाता महिला महाविद्यालय के उपाचार्य श्री ज्ञानेन्द्रचन्द्र दत्त को मिलाकर गठित समिति ने इसके अनुवाद व सम्पादन का कार्य पूरा किया। शुरू के ५० पृष्ठों में श्रीरामकृष्ण तथा मूल ग्रन्थ के लेखक महेन्द्रनाथ गुप्त की संक्षिप्त जीवनी भी दी गयी है। यद्यपि इस ग्रन्थ की मूल भाषा बँगला है, तथापि अनुवाद में हिन्दी तथा अंग्रेजी संस्करण की भी सहायता ली गयी है। अनुवाद अत्यन्त सरल संस्कृत भाषा में हुआ है। बीच-बीच में श्रीरामकृष्ण द्वारा गाये गये बँगला भजनों के

(शेष अगले पृष्ठ पर)

८. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, डॉ. रामगोपाल मिश्र (सागर विश्व-विद्यालय), विवेक प्रकाशन, दिल्ली, वि. २०३३, पृ. १८८-९०; 'संस्कृत वाङ्मय कोष', वर्णेकर, द्वितीय खण्ड, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, १९८८, पृ. ३३५

९. 'विद्योदय' मासिक पत्रिका की पुरानी फाइलें कोलकाता के राष्ट्रीय ग्रन्थालय में उपलब्ध हैं। पुनर्मुद्रण के लिये देखिये – स्वामी अपूर्वानन्दजी द्वारा संकलित 'श्रीरामकृष्ण-उपदेश-साहस्री' ग्रन्थ का परिशिष्ट अंश पृ. १-२३ और Prabuddha Bharata, Year. 1978, Pp. 1, 41, 81, 161, 201, 241, 281, 321, 361, 401, 441, 481

१०. पुनर्मुद्रण – Prabudha Bharata, Yr. 1997, Pp. 14-21

११. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य (मराठी), अकोला, १९६३, पृ. २३९

व्याकुलता : ईश्वर दर्शन का साधन

संकलक – ए. एस. राठौर

भगवान श्रीरामकृष्णदेव जब दक्षिणेश्वर में माँ काली की साधना में लगे थे, तो उनके मन में माँ के दर्शन की प्रचण्ड व्याकुलता उत्पन्न हो गई थी। वे माँ के दर्शन हेतु रात-दिन छटपटाते रहते थे। उनका आहार-निद्रा भी कम हो गयी थी। वे तल्लीन होकर रामप्रसाद और कमलाकान्त के भजन गाया करते थे। वे व्याकुल होकर कहते – "माँ, मैं तो इतनी व्याकुलता से तुम्हें पुकार रहा हूँ, क्या तुम्हें मेरी आवाज सुनाई नहीं देती?" वे कहते, "माँ मैंने तुझे इतना पुकारा, तुझसे इतनी विनती की, तो यह क्या सब तुझे सुनाई नहीं देता? तूने कमलाकान्त को दर्शन दिये, रामप्रसाद को दर्शन दिये, क्या तू मुझे दर्शन नहीं देगी? माँ, मुझे धन नहीं चाहिये, मान नहीं चाहिए, भोग-सुख नहीं चाहिये, मुझे तो केवल तेरे दर्शन चाहिये।"

वे गंगा माँ की ओर मुँह करके कहते – "माँ, आज का दिन भी चला गया, तूने मुझे दर्शन नहीं दिये, अब तू मुझे कब दर्शन देगी? वे माँ-काली के मन्दिर में जमीन पर पड़े रहते। उनका मुख लहूलुहान हो जाता था। एक दिन माँ के मन्दिर में प्रार्थना के समय अत्यधिक व्याकुल होकर वे कहने लगे, "माँ तेरे दर्शन के बिना इस अवस्था में जीकर मैं क्या करूँगा?" सहसा मन्दिर में लटकती हुई तलवार को लेकर वे अपनी छाती में मारने ही जा रहे थे कि उन्हें चिन्मयी माँ का अपूर्व दर्शन हुआ और वे देहभान भूलकर बेसुध होकर जमीन पर गिर पड़े। तब उन्हें केवल असीम चेतन ज्योति समुद्र की अनुभूति हुई।

परवर्ती काल में वे अपने पास आनेवाले भक्तों से कहते – "इस दुर्लभ मानव जन्म को पाकर भी जो इसी जीवन में ईश्वर को पाने की चेष्टा नहीं करता, उसका जन्म व्यर्थ है।" वे और भी कहते हैं – "हृदय की तीव्र व्याकुलता के साथ क्या तुम उनके लिए रो सकते हो? लोग स्त्री, पुत्र और धन के लिए कितना रोते हैं, पर भगवान के लिए कौन रोता है! बच्चा जब तक खिलौने लेकर खेलने में मग्न रहता है, तब तक उसकी माँ रसोई पकाने या गृहस्थी के अन्य काम करने में लगी रहती है, पर जब बच्चा खिलौने फेंककर अपनी माँ के लिए रोने लगता है, तब माँ भात की हण्डी चूल्हे पर से उतार देती है और जल्दी से दौड़कर बच्चे को गोदी में उठा लेती है। धन, परिवार, मकान, पुत्र तथा सांसारिक वैभव आदि खिलौने हैं। जब तक तुम इनमें आसक्त रहोगे, भगवान तुमसे दूर रहेंगे। जब तुम सांसारिक वस्तुओं को त्यागकर भगवान के लिए रोओगे, तो भगवान सब कार्य छोड़कर तुम्हारे पास चले आयेंगे। आवश्कता है शुद्ध, निष्काम, निष्कपट, पवित्र एवं सरल भाव से व्याकुल होकर उन्हें पुकारने की। कुटिलता और अहंकार से वे दूर रहते हैं।"

वे और भी कहते – "पानी में डुबो दिये जाने पर जैसे ऊपर आने के लिए प्राण व्याकुल हो उठते हैं, वैसे ही यदि कोई ईश्वर-दर्शन के लिये व्याकुल हो, तभी उनके दर्शन होते हैं। ... ईश्वर के लिए अधिक नहीं, तीन दिन भी नहीं, केवल चौबीस घण्टे मन में व्याकुलता बनाये रख सको, तो उनके दर्शन मिल जायेंगे।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के अन्त में कहा है, व्याकुलता के साथ-साथ हमें ईश्वर पर पूर्ण आस्था और विश्वास होना चाहिये। जैसे बच्चे को अपनी माँ के ऊपर विश्वास होता है –

बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लहिअ विश्राम।।
निर्मल मन जन सोइ मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।
मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई।
भजत कृपा करिहैं रघुराई।।

भगवान रामकृष्ण देव कहते हैं, "सती का पति के प्रति प्रेम, माता का बालक के प्रति प्रेम, विषयी मनुष्य का विषयों के प्रति प्रेम, इन तीनों प्रेमों को एकत्र करके ईश्वर की ओर लगाने से ईश्वर के दर्शन पाये जा सकते हैं।"

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं –

कामहि नारि पिआरी जिमि, लोभहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सुललित संस्कृत पद्यों में अनुवाद भी हैं।

तीसरा ग्रन्थ है – **श्रीरामकृष्ण-उपदेश-साहस्री**। विवरण निम्नलिखित है – संकलक तथा संयोजक – स्वामी अपूर्वानन्द, संस्कृत पद्य-रूपान्तर प्राध्यापक त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर, हिन्दी अनुवाद गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री, सम्पादक आचार्य आनन्द झा, संस्करण १९७७, रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम, बारासात (पश्चिम बंगाल), पृ. १६+२८६+२४। श्रीरामकृष्ण के १००० उपदेशों का श्लोकों में रूपान्तरण, जो विषयानुसार १८ अध्यायों तथा अनेक उपशीर्षकों में विभाजित हैं। २००५ ई. में यह ग्रन्थ मराठी अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हुआ।

❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

वह दृश्य अब भी मानस-पटल पर स्पष्ट रूप से अंकित है – माँ की घोड़ागाड़ी सदर दरवाजे पर आकर खड़ी हो गयी। गाड़ी नहीं मानो आनन्द का तूफान था। भाग-दौड़ शुरू हो गयी। वृद्धा 'विजया'-गोलाप-माँ ऊपर के बरामदे से बालिका जैसी तत्परता के साथ उत्साहित-उत्फुल्ल मुख से बारम्बार शंखध्वनि करने लगी। प्रभु, माँ और उनके भक्तवृन्द उनके जीवन का केन्द्र हैं। योगीन-माँ मानो ज्ञान-भक्ति से निर्मित देहवाली थीं, बड़े-बड़े दो नेत्र, गम्भीर भावों से युक्त। माँ को गाड़ी पर बैठे देखकर ही उनका प्राण-मन भरपूर हो गया। मुस्काती हुई माँ का ठोड़ी का स्पर्श करके अपने हाथ को चूमती हुई बोलीं, "आओ माँ, आओ।" उनका स्वर परम मधुरता से परिपूर्ण था। श्रीचरणों में सिर टेककर लम्बे समय तक प्रणाम। हम गाते हैं, "नाविक धावित मृदुपद राम।" यहाँ रामगतप्राणा माँ के पादपद्म थे। जीवन्त गंगादेवी के पवित्र पादपद्म का गंगाजल से प्रक्षालन किया गया। वस्त्र से तत्काल पोंछा गया। माँ सिर पर हाथ रखकर आशीष आदि देने के बाद 'जया'-योगीन का हाथ पकड़कर गाड़ी से उतरीं। जब तक दुमंजले के अपने कमरे में नहीं चली गयीं, तब तक घूँघट काढ़े रहीं। माँ सिंहवाहिनी की दोनों सखियाँ माँ को पाकर मानो तत्क्षण सब कुछ पा गयीं। भावविह्वल हो उठीं। दीर्घ काल तक अहंकार-दानव को वशीभूत करके माँ की इन दो सखियों ने विशेष रूप से माँ की महिमा, माँ के मूल्य को समझा है। गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ भक्तजीवन के लिये दृष्टान्त स्वरूप हैं। आदर्श हैं। माँ आयी हैं। इसके पहले एक बार माँ के आने के बाद १९१२ ई. में एक पत्र में शरत् महाराज ने हमारी मँझली दीदी नन्दरानी को आसाम में लिखा था, "माँ के काशी से कलकत्ता लौट आने पर काम चारगुना बढ़ गया है।"

उस वर्ष (१९१६) दुर्गोत्सव में माँ ने अपनी टोली के साथ चार-पाँच दिन बेलूड़ मठ में तीर्थवास किया। मुझे परम आनन्द मिला। जीवन में उनका सुवास आज भी मिट नहीं सका है। आज भी स्मृति के उद्यान में अभी-अभी खिले ताजे फूल के समान है। लोग बागबाजार के माँ के घाट से अलग-अलग नावों में गये। कितनी बातें ! कितनी हँसी ! कितना बचपना ! उस समय उद्बोधन में खुदुमनि महाराज (बाद में स्वामी श्यामानन्द – रंगून सेवाश्रम के संस्थापक) भण्डारी थे। सबके लिये रसद – भरपेट भोजन की व्यवस्था करना उनके हाथ में था। उनके मँझले भाई राम महाराज कभी बेलूड़ मठ में थे और मन्दिर के लिये बाजार करते थे। पाई-पाई तक का हिसाब रखते, गड़बड़ी की कोई गुंजाइश नहीं थी। अपनी आँखों से देखकर या जीभ से चखकर सामान खरीदते। पाँच दुकानों में जाकर जाँच-परख करते। दोनों भाइयों ने ठाकुर और माँ की गृहस्थी में वर्षों तक काफी शरीरिक श्रम किया। उत्तरी कलकत्ते के कुमारटोली निवासी कोई धनाढ्य व्यक्ति उस समय बेलूड़ मठ की पश्चिमी दिशा में स्थित गंगातट पर स्थित उद्यान-भवन के मालिक थे। याद है खुदुमनि महाराज के साथ उसी मालिक से अनुमति लेने गया था। उन दिनों वह उद्यान-भवन अपने माली के नाम पर 'सोना का बगीचा' के नाम से परिचित था।[२] मालिक के तत्काल सानन्द अनुमति देने पर माँ और उनके संगियों ने महापूजा के कुछ दिन वहाँ बिताये। वहाँ माँ के साथ गोलाप-माँ, योगीन-माँ भी गयीं। मठ की पूजा में राजा महाराज, बाबूराम महाराज, शरत् महाराज, शिवानन्दजी, अनेक साधु-ब्रह्मचारी और अजस्र भक्तों की भीड़, खूब चहल-पहल थी। सतत 'दीयतां भुज्यताम्' की रव उठ रही थी। रामकृष्ण साम्राज्य के इतने दिक्पालों का एक साथ समावेश ! और सबके मस्तक की मणि थीं – महाशक्ति-स्वरूपिणी माँ।

नाच-नाचकर करताली देते हुए भक्तों के समूह के बीच से बारम्बार 'जय माँ', 'जय श्री गुरु महाराज' की ध्वनि उठ रही थी। दुर्गा देवी की दोपहर की आरती समाप्त हुई। चौड़े

२. उस समय वह उद्यान मठ की सम्पत्ति हो चुकी थी, श्रीमती लेगेट की आर्थिक सहायता से उसे खरीदा गया था। अब उसका नाम है – 'लेगेट हाउस'। पहले जो उड़िया माली उस मकान की देखभाल करता था, उसका नाम 'सोनामणि' या संक्षेप में 'सोना' था, तभी से उस उद्यान का नाम 'सोना का बगीचा' हो गया था। – सं.

पक्के चबूतरे पर भक्त लोग पंगत-पर-पंगत – बैठकर खिचड़ी प्रसाद पा रहे थे। कर्मी लोगों के बैठने की व्यवस्था करना, पंगतों में रखे मिट्टी के कुल्हड़ों में पानी देना, जूठे पत्तल हटाकर स्थान को धोकर फिर पंक्ति-दर-पंक्ति कुश के आसन बिछाना आदि कार्य हो रहे थे। जरा भी कहीं बेसुरा भाव नहीं था, सब कुछ हँसी-खुशी के साथ उत्साहपूर्वक चल रहा था। वह एक देखने की चीज थी। सबसे उल्लेखनीय था – प्रेममय परमपवित्र बाबूराम महाराज को आनन्द से मतवाले, आत्मविभोर भाव में देखना। मानो फटकर चारों ओर बिखर जायेंगे। रक्तिम दुधिया रंग, अपूर्व लालिमा लिये मुखाकृति, मानो वास्तविक नहीं किसी मूर्तिकार की कलाकृति हों। सभी को आदर-सत्कार, भरपूर स्नेह-यत्न और मुख से बारम्बार 'जय माँ', 'महामाई की जय' की जयजयकार। चिन्मयी माँ-सारदा की उपस्थिति से मृण्मयी दशभुजा दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए जाग उठी हैं। तपस्वियों के सिवा माँ को और कौन जान सकता है? महाष्टमी, सन्धिपूजा, महानवमी को कुमारी पूजा[३] आदि विशेष-विशेष क्षणों में माँ दुर्गामण्डप के सामने महिलाओं के लिए घेरकर बने स्थान में बैठकर पूजा की समस्त क्रियाएँ बड़ी तन्मयता से देखतीं और साथ-ही हाथ में नाम की थैली लिये जप भी करतीं। दुर्गाजी की संध्या-आरती देखने को वे नित्य निश्चित रूप से उपस्थित रहतीं। रात के समय देवीमण्डप में जब साधु-ब्रह्मचारी भजन गाते, तब माँ काफी देर तक स्थिर होकर सुनती। आजीवन भजन के प्रति उनका विशेष अनुराग रहा है। दुर्गा देवी के सम्मुख बैठी विशाल-नेत्र योगीन-माँ का जप-ध्यान में निमग्न-भाव एक देखने की चीज थी। उस समय उनका बाह्य ज्ञान नहीं रहता था। नेत्रों और चेहरे से ईश्वरीय नशे में विभोर ध्यानसिद्ध शिवानन्दजी एवं बड़े महाराज के सुमधुर प्रशान्त मुखमण्डल पर अनुभूति का आलोक दे-कर भक्तगण मोहित हो जाते। उस समय इन सभी ने मिल कर मठ में मानो एक बृहत् सुविशाल ब्रह्मचक्र की रचना की थी। सब कुछ सहज और स्वाभाविक रूप से सम्पन्न होता।

महाष्टमी के दिन भक्तगण कतारों में खड़े होकर बारी-बारी से माँ को प्रणाम निवेदित कर रहे हैं। मानो चित्र देख रहा हूँ। चलचित्र बनाकर रखने योग्य दृश्य! श्रीमाँ एक तख्त पर आसीन थीं; दोनों चरण-कमल भूमि पर स्थापित थे। देखते-ही-देखते उनके चरणों में बिल्वपत्र तथा जवा-पुष्पों का पहाड़ लग गया। माँ के बारे में प्रभु की वाणी है, "कई ईश्वरीय रूप देखे। उसमें यह भी थी।" माँ ने स्वयं भी कहा है, "जो पास रहते हैं, वे नहीं समझ पाते कि यह देव-शरीर है। इस शरीर को देव-शरीर समझना।" सारदा-रूप ईश्वरीय रूप है। इस आधार में घूँघट लगाये इतने लोगों का प्रणाम लेते-लेते माँ पसीने से नहा उठीं। गोलाप-माँ शीघ्रतापूर्वक अपने आँचल से माँ के ललाट का पसीना पोछने लगीं।

अब दुर्गोत्सव का उपसंहार होगा। देवी के विसर्जन के पूर्व का दृश्य अत्यन्त करुण, मर्मभेदी, हृदय-विदारक, मृदु तथा कोमलता से परिपूर्ण है। प्रारम्भ के बिल्कुल विपरीत! प्रारम्भ में तो कैसी प्रचण्ड उत्तेजना, उद्यम तथा उत्साह रहता है। जीवन-धारा में तीव्र प्रवाह में प्रकाश और अन्धकार का बारी-बारी से आवागमन होता रहता है। विशाल प्रतिमा के समक्ष एक ऊँचे समतल चौकी पर माँ को चढ़ा दिया गया। माँ का हाथ दुर्गा देवी के मुख तक पहुँच गया। वे उनकी ठुड्डी का स्पर्श करके बारम्बार चूमने तथा स्नेह जताने लगीं। उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकली। जिस प्रकार कैलाश-यात्रा (ससुराल) के लिए विदा देते समय माँ के प्राण मानो राजी नहीं होते, छाती फटने लगती है, वैसे ही श्रीमाँ भी मानो बाह्यज्ञान-शून्य और निस्पन्द हो गयीं! माँ तो देवी को साक्षात् देख रही थीं। इतना समय बीत जाने के बाद – आज भी ये दोनों देवियाँ मेरे मानस-पटल पर आमने-सामने सजीव रूप से विराजमान हैं। विशाल रामकृष्ण-संघ-परिवार की दादी श्यामा सुन्दरी देवी ने जगद्धात्री-देवी के विसर्जन के समय प्रतिमा के कानों में कहा था, "माँ जगाई फिर आना।" श्रीमाँ भी इस समय सम्भवत: वैसा ही अनुरोध कर रही होंगी। उसी समय असंख्य भक्तों के कण्ठ से माँ-महामाया की जयध्वनि गूँज उठी। भक्तों ने कन्धे लगाकर प्रतिमा को उठा लिया। अब सभी लोग गंगाघाट की ओर चल पड़े। पुराने मठभवन के घाट के सामने (स्वामीजी के कमरे के नीचे) रात के अन्धकार में चार नौकाओं की सहायता से डे-लाइट तथा गैस की रोशनी की गयी थी। ढाक-ढोल तथा नाना प्रकार के वाद्यों के साथ खूब उन्मादपूर्ण ध्वनि उठ रही थी। गंगाजी की मिट्टी से निराकार-माँ के रूप-विग्रह का निर्माण, फिर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा, चार दिन की पूजा, आराधना के रूप में प्राण-संहरण और अन्तत: फिर गंगाजी में ही रूप को डुबाते हुए आकार का विसर्जन। सचमुच ही – "तुम्हीं से जनम, फिर तुम्हीं में समा जाना"। नौका के ऊपर बहुत देर तक काँजीलाल डाक्टर और बलिष्ठ युवक बोशी सेन का उद्दाम आनन्दपूर्ण नृत्य हुआ। माँ भी बगीचे की लोहे की रेलिंग से और बाद में गंगाजी की ओर के चौड़े चबूतरे पर खड़ी अपलक नेत्रों से विसर्जन का दृश्य देखने लगीं। इसके बाद अन्तर्जली के साथ पूजा का उपसंहार हुआ। सभी लोगों ने शान्तिजल ग्रहण किया। जीवन्त दुर्गा (माँ) को पुन: असंख्य भक्तों ने महाष्टमी दिवस के समान ही आज विजया-दशमी का शुभ प्रणाम निवेदित किया। उस समय पवित्र गंगाजी के तट पर स्थित मठभूमि में और आसपास – गहन भक्ति का गहन स्रोत प्रवाहित होने लगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

३. उन दिनों मठ में नवमी के दिन कुमारी-पूजा का अनुष्ठान होता।

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (७)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

बेलूड़ मठ में ईसा की पूजा

कल बड़ा दिन है। आज ईसा मसीह का जन्मदिन है। मठ में सन्ध्या-आरती के बाद विश्राम-कक्ष में उनकी पूजा तथा आरती होगी। डॉ. कांजीलाल कलकत्ते से फल-मूल आदि चढ़ावा लाये हैं, उनका भोग दिया जायगा। ईसामसीह का चित्रपट बड़ी सुन्दरता के साथ पुष्पमालाओं से सजाकर रखा गया है। विविध प्रकार के पुष्पों तथा धूप की सुगन्ध से सुवासित वह कमरा साधु-ब्रह्मचारी तथा कलकत्ते से आये भक्तों से भर गया है। पूजनीय बाबूराम महाराज, खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द), शुकुल महाराज (स्वामी आत्मानन्द) आदि सिद्ध महापुरुषगण भी एक-एककर आये और अपने-अपने लिए निर्दिष्ट आसन पर बैठ गये। पूजनीय ब्रह्मानन्द महाराज पादरी लोगों के समान काला लबादा पहने हुए हैं। उनके भी आसीन हो जाने पर सभी लोग परम श्रद्धापूर्वक सिर नवाकर उनके चरणों में अवनत हुए। ईसा मसीह के महान त्याग तथा पवित्र जीवन पर थोड़ी देर चिन्तन करने के बाद पूजनीय ब्रह्मानन्द स्वामीजी के आदेश पर श्रद्धेय माधवानन्द स्वामी अंग्रेजी बाइबिल से पर्वतोपदेश का पाठ करने लगे, जिसका भावार्थ इस प्रकार है –

गैलीलिया, देकापोलिस, जेरूसलम, यहूदिया तथा जार्डन नदी के उस पार से आये हुए विशाल जनसमूह ईसा के पीछे-पीछे चलने लगा। यह देखकर वे एक पहाड़ी पर चढ़कर बैठ गये। उनके शिष्य भी उनके पास आ गये और वे लोगों को उपदेश देते हुए कहने लगे –

"धन्य हैं वे लोग, जो स्वयं को दीन-हीन समझते हैं, क्योंकि परमात्मा का राज्य उन्हीं का है।

धन्य हैं वे लोग, जो विनम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।

धन्य हैं वे लोग, जो शोक करते हैं, क्योंकि उन्हें सान्त्वना प्राप्त होगी।

धन्य हैं वे लोग, जो धर्म के भूखे-प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किये जायेंगे।

धन्य हैं वे लोग, जो दयावान् हैं, क्योंकि उन पर दया की जायेगी।

धन्य हैं वे लोग, जिनका हृदय निर्मल है, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।

धन्य हैं वे लोग, जो मेल कराते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के पुत्र कहलायेंगे।

धन्य हैं वे लोग, जो धर्म के लिये अत्याचार सहते हैं, क्योंकि परमेश्वर का राज्य उन्हीं का है।

धन्य हो तुम लोग, जिनका मेरे कारण अपमान किया जाता है, अत्याचार किया जाता है और झूठे आरोप लगाये जाते हैं। खुश हो जाओ और आनन्द मनाओ, स्वर्ग में तुम्हें इसके लिये महान् फल की प्राप्ति होगी।

तुम पृथ्वी के नमक हो। ... तुम संसार की ज्योति हो।

अपने शत्रुओं से प्रेम करो और जो तुम पर अत्याचार करते हैं, उनके लिये प्रार्थना करो। इससे तुम अपने स्वर्गिक पिता (परमात्मा) की सन्तान बन सकोगे, जो दुर्जन तथा सज्जन – दोनों के लिये सूर्य उगाता है; जो धर्मी तथा अधर्मी – दोनों के लिये पानी बरसाता है। ... तुम भी वैसे ही पूर्ण बनो, जैसा कि तुम्हारा स्वर्गस्थ पिता पूर्ण है।

सावधान ! लोगों को दिखाने के लिये अपने धर्मकार्यों का प्रदर्शन मत करो, अन्यथा तुम स्वर्गस्थ परमात्मा के पुरस्कार से वंचित रह जाओगे।

जब तुम दान करते हो, तो उसका ढिंढोरा न पिटवाओ। पाखण्डी लोग सभागृहों तथा सड़कों पर ऐसा ही किया करते हैं, ताकि लोग उनकी प्रशंसा करें। मैं तुमसे सच कहता हूँ, वे लोग अपना फल पा चुके।

जब तुम दान करो, तो तुम्हारा यह कार्य इतना गुप्त रहे कि तुम्हारा बाँया हाथ भी यह न जान सके कि तुम्हारा दाहिना हाथ क्या कर रहा है। तुम्हारा दान गुप्त हो और सब कुछ देखनेवाला तुम्हारा परमात्मा उसका पुरस्कार देगा।

जब तुम प्रार्थना करो, तो अपने कमरे में जाकर द्वार बन्द कर लो और एकान्त में परमात्मा से प्रार्थना करो। निर्जनता में भी देखनेवाला परमात्मा उसका पुरस्कार देगा।

प्रार्थना करते समय ज्यादा बकबक मत करो,... क्योंकि परमात्मा तुम्हारे माँगने के पहले से ही यह जानता है कि तुम्हें किन-किन चीजों की जरूरत है।

यदि तुम दूसरों के अपराध क्षमा करोगे, तो परमात्मा भी तुम्हें क्षमा करेगा, परन्तु यदि तुम दूसरों के अपराध क्षमा नहीं करोगे, तो परमात्मा भी तुम्हारे अपराध क्षमा नहीं करेगा।

पृथ्वी पर अपने लिये धन एकत्र मत करो, जहाँ उसमें जंग लग जाता है, कीड़े खा जाते हैं और चोर उसे सेंध लगा कर चुरा ले जाते हैं। परमात्मा के पास अपने पुण्य-धन का संचय करो, जहाँ न उसमें जंग लगता है, न कीड़े खा पाते हैं और न चोर ही उसे चुरा सकते हैं। क्योंकि जहाँ तुम्हारा धन रहेगा, वहीं तुम्हारा दिल भी लगा रहेगा।

कोई भी सेवक एक साथ दो मालिकों की सेवा नहीं कर सकता। वह या तो एक से बैर और दूसरे से प्रेम करेगा, या एक का आदर और दूसरे का तिरस्कार करेगा। तुम परमात्मा और धन – दोनों की एक साथ सेवा नहीं कर सकते।

जीवन-निर्वाह की चिन्ता मत करो कि हम क्या खायेंगे और क्या पहनेंगे। क्या जीवन भोजन और वस्त्र से बढ़कर नहीं है? आकाश के पक्षियों को देखो। वे न तो बोते हैं, न काटते हैं और न कोठार में संचय करते हैं। तो भी स्वर्गस्थ परमेश्वर उन्हें खिलाता है। चिन्ता करके भला कौन अपनी आयु में एक क्षण की भी वृद्धि कर सकता है!

कपड़ों की चिन्ता क्यों करते हो? मैदान के फूलों की ओर देखो – वे कैसे बढ़ते और खिलते हैं। वे न श्रम करते हैं और न सूत कातते हैं, परन्तु सम्राट् सोलोमन भी उनके ठाट-बाट की बराबरी नहीं कर सकते।

इसलिये चिन्ता मत करो कि हम क्या खायेंगे, क्या पीयेंगे या क्या पहनेंगे। तुम्हारा प्रभु परमेश्वर यह जानता है कि तुम्हें इन सब चीजों की जरूरत है।

सबसे पहले परमेश्वर के राज्य की खोज करो और उनकी इच्छा के अनुरूप आचरण करो, तो बाकी सब चीजें तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगी। कल की चिन्ता मत करो। कल स्वयं ही अपनी चिन्ता कर लेगा। आज के लिये आज की मुसीबतें ही काफी हैं।

दूसरों पर दोष मत लगाओ, ताकि तुम पर भी दोष न लगाया जाय; क्योंकि जिस पैमाने से तुम दूसरों को मापते हो, उसी पैमाने से तुम्हें भी मापा जायेगा।

तुम अपने भाई की आँख में तिनका तो देख लेते हो, जबकि तुम्हारी अपनी आँख में पड़ा लट्ठा तुम्हें नहीं सूझता। ... पहले तुम अपनी आँख का लट्ठा निकाल लो, तभी तो तुम अपने भाई की आँख का तिनका निकालने के लिये उसे ठीक-ठीक देख सकोगे।

पवित्र वस्तु कुत्तों को मत दो। मोती को सूअरों के सामने मत बिखराओ। कहीं ऐसा न हो कि वे उसे पैरों-तले रौंद डालें और पलटकर तुम्हें भी फाड़ डालें।

माँगो – और तुम्हें दिया जायेगा। ढूँढ़ो – और तुम्हें मिल जायेगा। द्वार खटखटाओ – और वह तुम्हारे लिये खुल जायेगा। क्योंकि जो माँगता है, उसे मिलता है; जो ढूँढ़ता है, वह पाता है; और जो द्वार खटखटाता है, उसके लिये खोल दिया जाता है। क्योंकि तुम लोगों में ऐसा कौन है, जो अपना बेटा रोटी माँगे, तो उसे पत्थर देगा!

दूसरों से अपने साथ तुम जैसे व्यवहार की अपेक्षा करते हो, तुम भी उनके लिये वैसा ही किया करो। यही शास्त्रों तथा सन्तों की शिक्षा है।

सँकरे द्वार से प्रवेश करो; क्योंकि विशाल है वह द्वार और चौड़ा है वह मार्ग, जो विनाश की ओर ले जाता है। उस पर चलनेवालों की संख्या भी बहुत बड़ी है। पर सँकरा है वह द्वार और कठिन है वह मार्ग, जो अनन्त जीवन की ओर ले जाता है; उस पर चलनेवालों की संख्या भी कम है।

धर्म-ध्वजियों से सावधान रहो। वे भेड़ों के वेश में तुम्हारे पास आते हैं, परन्तु भीतर से वे खूँखार भेड़िये हैं।

जो केवल 'हे प्रभो, हे प्रभो' कहता रहता है, ऐसा हर व्यक्ति परमात्मा के राज्य में प्रवेश नहीं करेगा, अपितु वह करेगा, जो स्वर्गस्थ परमात्मा की इच्छा के अनुसार चलेगा।

जो व्यक्ति मेरी ये बातें सुनता है और इन्हें आचरण में लाता है, वह उस समझदार व्यक्ति के समान है, जिसने चट्टान की नींव पर अपना घर बनाया। पानी बरसा, बाढ़ आयी, आँधियाँ चलीं और उस मकान से टकरायीं, परन्तु वह नहीं ढहा, क्योंकि उसकी नींव चट्टान पर रखी गयी थी।

जो व्यक्ति मेरी बातें सुनता है, परन्तु उन पर अमल नहीं करता, वह उस मूर्ख के समान है, जिसने बालू की नींव पर अपना मकान बनवाया। पानी बरसा, नदियों में बाढ़ आयी, आँधियाँ चलीं और उस मकान से टकरायीं। वह मकान ढह गया और उसका अन्त बड़ा भयानक था।

उपदेश देना समाप्त हो जाने के बाद ईसा पहाड़ी से नीचे उतर आये।

पाठ समाप्त हुआ। साधु-ब्रह्मचारी तथा भक्तगण – सभी ने अवनत होकर प्रार्थना की – "हे प्रभो, तुम हमारे हृदय में भक्ति-विश्वास दो, निर्भरता दो, हमारा मन शुद्ध करो, निर्मल करो, पवित्र करो। आमेन – तथास्तु।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी आत्मानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द पश्चिमी देशों में वेदान्त-सन्देश का प्रचार करने के बाद १८९७ ई. के प्रारम्भ में भारत लौट आये थे। कलकत्ते में उनका भव्य स्वागत हुआ। इसके बाद स्वामीजी आलमबाजार मठ में निवास करने लगे। उन्हें अपने बीच पाकर गुरुभाइयों, शिष्यों तथा भक्तों के आनन्द तथा उत्साह की सीमा न रही। गोविन्द प्रसाद को उन दिनों मठ में सभी लोग 'शुकुल' या 'शुकुल महाशय' कह कर सम्बोधित किया करते थे। एक दिन स्वामीजी सहसा पूछ बैठे, "क्यों जी शुकुल, क्या तुम साधु होने आये हो?" गोविन्द प्रसाद ने तत्काल सविनय उत्तर दिया, "महाराज, मेरे पास साधु होने के लिये उपयुक्त शरीर-मन – कुछ भी नहीं है। यदि मैं अपना यह सड़ा हुआ शरीर आपकी सेवा में अर्पित कर सकूँ, तो मेरा विश्वास है कि अगले जन्म में मुझे अच्छा शरीर-मन प्राप्त होगा। केवल यही विश्वास लेकर मैं यहाँ आया हूँ।" इस उत्तर पर अत्यन्त प्रसन्न होकर स्वामीजी बोल उठे, "That's right ! That's right ! That's right !" (अति उत्तम बात ! अति उत्तम बात ! अति उत्तम बात !)। परवर्ती काल में इस घटना का उल्लेख करते हुए शुकुल महाराज अभिभूत हो पड़े थे और बोले, "स्वामीजी के मुख से जोर से उच्चरित – 'That's right !' (अति उत्तम बात !) – यह उक्ति आज भी मेरे कानों में गूँज रही है।" स्वामीजी ने प्रसन्न होकर शीघ्र ही – सम्भवत: इस घटना के दो-चार दिन बाद ही उन्हें तथा एक अन्य नवागत ब्रह्मचारी को संन्यास-दीक्षा प्रदान किया। गोविन्द प्रसाद शुकुल का श्रीरामकृष्ण के चरणों में नया जन्म हुआ – श्रीगुरु के आशीर्वाद से धन्य उस शरीर का नाम स्वामी आत्मानन्द हुआ; और संन्यास पानेवाले स्वामीजी के उन दूसरे शिष्य का नाम स्वामी कल्याणानन्द हुआ। सम्भवत: यह १८९७ ई. के अन्तिम दिनों या १८९८ ई. के प्रारम्भ की बात है।

मठ में गुरुदेव के सान्निध्य में निवास करने का परम सौभाग्य पाकर अब आत्मानन्द गुरुसेवा, ध्यान-जप तथा शास्त्रचर्चा आदि की सहायता से और भी उत्साहपूर्वक आत्मस्थ भाव से रहने की चेष्टा करने लगे। इसके बाद वे वृन्दावन-धाम गये और वहाँ एकान्तवास तथा तपस्या में कुछ काल बिताया। उन दिनों वे केवल भिक्षा के अन्न से ही शरीर-यात्रा का निर्वाह करते थे। उनकी इस तपस्या के दौरान अल्मोड़ा से स्वामी तुरीयानन्द पत्र आदि के द्वारा 'शुकुल महाराज' को खूब प्रोत्साहित करते थे।

परन्तु आत्मानन्द केवल ध्यान-भजन में ही डूबे नहीं रह सके। वस्तुत: उनके गुरु द्वारा उपदिष्ट आदर्श था, "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च" – "अपनी मुक्ति तथा जगत् के हित के लिये" जीवन-यापन। इसीलिये ज्ञानचर्चा या भक्ति-साधना के समान ही 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का आदर्श भी उनके हृदय को स्पन्दित किया करता था। स्वामीजी के आदेश पर रामकृष्ण मिशन जब ३१ मार्च १८९९ ई. को प्लेग-पीड़ित कलकत्ता-निवासियों की सेवा करने को अग्रसर हुआ, तो उस ऐतिहासिक सेवाकार्य में आत्मानन्द की अद्भुत सेवानिष्ठा का परिचय मिला था। उस सेवा-आन्दोलन के नायक थे स्वामीजी के प्रिय शिष्य स्वामी सदानन्द और आत्मानन्द तथा भगिनी निवेदिता उनके दो प्रधान सहकारी थे। १९०० ई. के अन्त अथवा १९०१ ई. के प्रारम्भ में बेलूड़ मठ से उन्हें किशनगढ़ भेजा गया, ताकि वे वहाँ दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की सेवा में निरत अपने गुरुभाई कल्याणानन्द की सहायता कर सकें। वहाँ पर भी उनका अद्भुत उद्यम दृष्टिगोचर हुआ। आत्मानन्द का यह सेवाभाव कर्तव्यबोध से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव से प्रेरित था। परवर्ती काल में भी देखने में आया कि उनकी सेवादृष्टि में कैसी निष्ठा तथा आप्राण चेष्टा निहित होती थी। जब वे ढाका मठ के अध्यक्ष थे, उस समय आश्रम द्वारा परिचालित चिकित्सालय में रोगियों को पथ्य देने के पूर्व साधु-सेवकों को भोजन के लिये बैठे देखकर उन्होंने व्यथित चित्त के साथ सबका तिरस्कार करते हुए कहा था, "नारायणों को भोजन कराये बिना तुम लोग खाने कैसे बैठ गये?" अहा, उस दिन उनके मुख-नेत्रों से कैसी नाराजगी तथा वेदना अभिव्यक्त हो रही थी! मनुष्यों के भीतर यह नारायण-दृष्टि आत्मानन्द के जीवन में स्वामीजी की कृपा से अत्यन्त सहज स्वाभाविक हो गया था।

आत्मानन्द की गुरुभक्ति तथा गुरुवाक्य में विश्वास असाधारण था। स्वामी आत्मानन्द के जीवन की सभी प्रकार की सफलताओं के मूल में था – उनका अगाध विश्वास तथा उनकी अटल गुरुभक्ति। स्वामीजी ने एक बार अपने विषय में तरह-तरह की भयंकर बातें कहीं और अपने सरल शिष्य की परीक्षा लेने के उद्देश्य से बोले, "सोचकर देख, क्या इसके बावजूद तू

मुझे गुरु मानेगा?'' आत्मानन्द क्षण भर भी विलम्ब किये बिना कह उठे, ''आपकी जो इच्छा हो, कहिये और जो इच्छा हो करिये, परन्तु मैं जानता हूँ कि मेरे इहलोक तथा परलोक – सब आप ही हैं।'' परवर्ती जीवन में उनके मुख से प्राय: ही सुनने में आता, ''गुरु-वाक्य तथा वेदान्त-वाक्य में विश्वास ही साधु-जीवन का श्रेष्ठ आश्रय है। इन दोनों में से गुरुवाक्य में विश्वास की कहीं अधिक आवश्यकता है।''

गुरु-शिष्य के बीच सम्बन्ध में कितनी मधुरता तथा सार्थकता होनी चाहिये, यह स्वामीजी के सान्निध्य में आत्मानन्द को देखकर ही समझा जा सकता है। शिष्य-वत्सल स्वामीजी इतने बालक-स्वभाव थे कि बहुधा वे अपने शिष्यों के साथ मित्रवत् अन्तरंग भाव से मेलजोल करके उन लोगों के जीवन की छोटी-मोटी त्रुटियों का परिमार्जन कर दिया करते थे। वैसे आचार्य का लक्षण भी यही है। परवर्ती काल में आत्मानन्द के जीवन में उनके गुरुदेव का जो सुन्दर प्रतिबिम्ब सबको मुग्ध किया करता था, वह उनके साधक जीवन के दौरान गुरु के सान्निध्य में निवास का फल था। इस प्रसंग में एक घटना स्मरणीय है – आत्मानन्द का अपना बिस्तर तथा कपड़े-लत्ते सर्वदा ही अति अल्प तथा सामान्य रहते थे। तो भी देखने में आता कि वे खूब निष्ठा के साथ बड़े सुन्दर ढंग से एक बिस्तर लगाकर रखते। उनका अपना दैनन्दिन जीवन अत्यन्त सहज-सरल था, तथापि वे बिना किसी कारण ही क्यों उस बिस्तर को इतने यत्नपूर्वक लगाते हैं – सबको इस बात पर बड़ा विस्मय होता। एक बार पूछे जाने पर उन्होंने सजल नेत्रों के साथ कहा था, ''बेलूड़ मठ में स्वामीजी बीच-बीच में आकर मेरे बिस्तर पर लेट जाया करते थे। उनके देहान्त के बाद भी एक दिन मैंने स्वप्न में देखा कि वे मेरे बिस्तर पर लेटे हुए हैं।... देखो, वे कब आ जायेंगे, यह तो मुझे मालूम नहीं, इसीलिये उनके लिये बिस्तर को तैयार रखता हूँ।'' यह कहते-कहते उस दिन उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया था। चलना-फिरना, आचार-व्यवहार और यहाँ तक कपड़े पहनने का तरीका आदि सब कुछ स्वामीजी से ही सीखा था। स्वामीजी एक दिन मठ में भजन गा रहे थे। तभी सहसा आत्मानन्द को देखकर वे बोले, ''शुकुल, जरा तबला बजा तो।'' शुकुल ने संकोचपूर्वक कहा, ''मैं तबला बजाना नहीं जानता।'' स्वामीजी ने स्नेहपूर्वक उन्हें डाँटते हुए कहा, ''इसमें जानने का क्या है रे? आ, सिखा देता हूँ।'' श्रीगुरु की प्रेरणा से आत्मानन्द बाद में एक कुशल तबला-वादक हो गये थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वे मृदंग बजाने में भी निपुण हो गये थे, जिसे वे अपने ध्रुपद-गायन के साथ स्वयं ही बजाया करते थे। ध्रुपद-गीत स्वामीजी को अत्यन्त प्रिय थे और सम्भवत: इसी कारण आत्मानन्द को भी उनके प्रति बड़ा अनुराग थ। उन्होंने स्वामीजी के गायन के साथ अनेकों बार मृदंग-वादन भी किया था।

आत्मानन्द की ध्यानशीलता तथा शास्त्र-अनुराग ने उन्हें स्वामीजी का विशेष प्रिय बना दिया था। गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के अध्ययन में उनके अनुराग को देखकर मठ के अन्य अन्तेवासी भी शास्त्र-पाठ की प्रेरणा पाते थे। उनके शास्त्र-ज्ञान पर स्वामीजी की इतनी आस्था थी कि वे उनके द्वारा मठ में शास्त्रों की अध्यापना भी कराते थे।

मठ में निवास के दौरान आत्मानन्द शास्त्रचर्चा, साधन-भजन तथा गुरुसेवा के अतिरिक्त कठोर परिश्रम के और भी कई कार्य परम आनन्दपूर्वक करते। दिन भर कठोर परिश्रम तथा पूजा-पाठ आदि करने के बाद भी, रात के समय साधुओं के सेवा के निमित्त कई सेर आँटा गूँथकर रोटियाँ बेलते हुए भी उनके चेहरे पर कोई शिकन नहीं आती।

उन दिनों 'उद्‌बोधन' पत्रिका को चलाने का उत्तरदायित्व स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के ऊपर न्यस्त था। आत्मानन्द कुछ काल इस कार्य में त्रिगुणातीत महाराज के सहकारी थे। साहित्य तथा व्याकरण में उनका पाण्डित्य अगाध था। परवर्ती काल में भी देखने में आया कि आत्मानन्द महाकवि गिरीशचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थों, विशेषकर उनके नाटकों का कितनी तीक्ष्ण दृष्टि के साथ अध्ययन तथा व्याख्या किया करते थे! उनमें से पूर्णचन्द्र, बिल्वमंगल, काला-पहाड़, नसीराम, चैतन्य-लीला, निमाई-संन्यास, पाण्डव-गौरव तथा रूप-सनातन उनके विशेष प्रिय थे। गिरीशबाबू की रचनाओं का वैशिष्ट्य बताते हुए वे कहते, ''वे इतने महान् कवि थे! गिरीशबाबू के अधिकांश नाटक 'भावमुख' अवस्था में लिखे गये थे। भाव का ज्वार आने पर वे बैठ जाते और दो-तीन लोग उसे सुनकर लिख डालते।... शेक्सपियर के 'मैकबेथ' नाटक में थोड़ा-सा दार्शनिक भाव दीख पड़ता है, परन्तु गिरीशबाबू के नाटकों की हर पंक्ति में गहन दार्शनिक भाव है।'' फिर वे यह भी कहते, ''मनुष्य कितनी निकृष्टता से कितनी ऊँचाई तक उठ सकता है, कितनी बुराइयों से निकल कर भलाई की ओर उन्मुख हो सकता है, इसके दृष्टान्त जैसी सहज-सरल तथा मर्मस्पर्शी भाषा में गिरीशबाबू के नाटकों में लिखे गये हैं, वैसा मुझे अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिले।''

स्वामीजी के मुख से भी बँगला साहित्य के विषय में विविध प्रसंग सुनने का सौभाग्य उन्हें अनेकों बार प्राप्त हुआ था। मठ में एक बार इसी तरह की एक चर्चा के दौरान स्वामीजी ने वहाँ उपस्थित युवा साधुओं से पूछा था, ''अच्छा, बताओ तो, माइकेल मधुसूदन दत्त का कौन-सा ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है?'' इसके बाद स्वामीजी ने स्वयं ही समझा दिया था 'मेघनाद-वध' ही माइकेल की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उस दिन स्वामीजी ने आत्मानन्द को ही दौड़कर वह पुस्तक ले आने का आदेश दिया था। ग्रन्थ आ जाने पर स्वामीजी ने उन्हीं को

उसका विशेष अंश खोलकर पढ़ने का निर्देश दिया। वैसे बाद में स्वामीजी ने स्वयं ही उसकी धाराप्रवाह आवृत्ति करके सबको मुग्ध कर दिया था। उन्होंने विशेष आवेगपूर्वक उस स्थान का पाठ किया था, जहाँ वर्णन है – मेघनाद की मृत्यु हो चुकी है; रावण तथा मन्दोदरी पुत्रशोक से विह्वल हैं। माता और पिता – दोनों तरह-तरह से पुत्र के लिये विलाप कर रहे हैं। तभी दौबारिक (द्वारपाल) आकर सन्देश दे गया कि द्वार पर शत्रु उपस्थित है। रावण ने तत्काल मानो भिन्न मूर्ति धारण किया और मन्दोदरी से कह उठा, "देखो रानी, अभी शोक प्रकट करने का समय नहीं है। मुझे तत्काल युद्ध के लिये तैयार होना पड़ेगा। शोक को त्यागकर मुझे रणक्षेत्र में जाने के लिये विदा करो।" स्वामीजी का वह तेजोद्दीप्त पाठ तथा चर्चा आत्मानन्द की स्मृति में सदा के लिये अंकित हो गयी। उस दिन उन्होंने स्वामीजी से सीखा कि सजग कर्तव्य-निष्ठा ही जीवन को सफलता से मण्डित करती है। स्वामीजी की याद करते समय वे इस घटना का बड़े उच्छ्वास के साथ वर्णन किया करते थे।

१९०२ ई. की ४ जुलाई के दिन स्वामीजी ने देहत्याग कर दिया। यह घटना उनके लिये एक प्रचण्ड आघात था। गुरुगतप्राण आत्मानन्द स्वामीजी के लीला-संवरण पर शोक तथा दु:ख से विह्वल हो उठे। अपनी इस समय की अवस्था का एक बार उन्होंने स्वयं ही वर्णन करते हुए कहा था, "स्वामीजी के देहत्याग के बाद संसार में रहने की इच्छा ही चली गयी। शरीर रहे या चला जाय – इसी संकल्प के साथ आहार-निद्रा को भूलकर जहाँ-तहाँ पड़ा रहता। कमरे में प्रवेश ही नहीं करता। किसी के साथ बातें करने को जी नहीं करता। खाने-पीने की बात तो मन में उठती ही नहीं थी।" श्रीगुरु के स्व-स्वरूप में लीन हो जाने पर, आत्मानन्द ने भी जगत् से अपना मन उठाकर कठोर आत्मध्यान में डूबे रहने का संकल्प किया। वे स्वामीजी की पवित्र समाधि-स्थल के पास ही एक कुटिया बनाकर, उसी में पड़े रहते और दिन-रात ध्यान-जप तथा शास्त्रपाठ में ही कालयापन करते। बेलूड़ मठ के गंगातट पर उनकी यह तपस्या काफी दिनों तक चली थी। दोपहर को वे स्वयं मठ में आकर भिक्षा ग्रहण करते और रात को कुछ रोटियाँ कोई उनकी कुटिया में रख आता। मठ के किसी-किसी संन्यासी के अनुरोध पर आखिरकार वे पुन: मठ-भवन में आकर निवास करने लगे। परन्तु तब भी आत्मानन्द की दृष्टि में, स्वामीजी के वियोग से मठ में सर्वत्र ही एक मार्मिक शून्यता फैली हुई थी। इस शोक से उबरने में उन्हें काफी समय लगा था।

किसी भी अवस्था में आत्मानन्द की शास्त्रचर्चा बन्द नहीं होती थी। उन दिनों स्वामी सारदानन्दजी स्वयं ही मठ में शास्त्रों का अध्यापन किया करते थे। उनसे शास्त्र-अध्ययन के सुयोग को आत्मानन्द ने एक दिन के लिये भी नहीं छोड़ा। यह वेदान्त-निष्ठा उनके स्वभाव का एक खास वैशिष्ट्य था। उनके स्वयं के गुरु होने के कारण ही वे स्वामीजी की महासमाधि पर इतने कातर हो उठे थे, या फिर आचार्य तथा शिष्य के बीच कोई अन्य रहस्य-सूत्र है – इसका निर्णय भला कौन कर सकता है? परवर्ती काल में, आत्मानन्द ने अपने सेवकों के समक्ष एक दिन अपने जीवन की किसी नितान्त व्यक्तिगत घटना का वर्णन करते हुए आवेग-रुद्ध कण्ठ के साथ कहा था, "उस दिन मैंने स्वामीजी का साक्षात् अनुभव किया था, जो सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर रहे हैं, वे ही मेरे सामने खड़े थे।" मठ-भूमि में दण्डायमान स्वामीजी के समक्ष बैठे भीत-चकित शिष्य की यह सूक्ष्म हृदयानुभूति गहन अर्थ से परिपूर्ण है। वे प्राय: ही यह भी कहा करते थे, "स्वामीजी शिव के अंश से उत्पन्न हुए थे।" स्वामीजी के विषय में उनकी उक्तियाँ उनके अन्त:स्थल से निकले ऐसे सत्य थे, जो भाव तथा अभिव्यक्ति में अतुलनीय थे। स्वामीजी का प्रसंग उठने पर वे भावविभोर होकर कह उठते, "इतने बड़े आचार्य इसके पहले कभी नहीं आये।"

संन्यासी आत्मानन्द का जीवन कर्मबहुल न होने पर भी श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भाव-प्रचार के क्षेत्र में उनकी कर्म-साधना कोई कम महत्त्वपूर्ण न थी। इसकी बाह्य परिधि बहुत भव्य न होने पर भी भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से वह नि:सन्देह गुरुत्वपूर्ण था। इस सन्दर्भ में कर्म के विषय में उनका स्वयं का भाव यहाँ विचारणीय है, जो उन्हें अपने गुरुदेव विवेकानन्द से ही प्राप्त हुआ था। कर्मयोग के विषय में उनका सिद्धान्त था, "मन को एकाग्र तथा अन्तर्मुखी करना ही साधु-जीवन का उद्देश्य है। स्वामीजी छोटे-छोटे कार्यों के द्वारा ही कर्मयोग की साधना किया करते थे। उनके मतानुसार जो अच्छी तरह झाड़ू लगा सकता है, वही तन्मय होकर ध्यान भी कर सकेगा। निवृत्ति-मूलक कर्म ही साधु-जीवन का लक्ष्य है। सकाम कर्म साधु-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। कर्म यदि कर्मी के हृदय से अहंभाव का नाश करके निवृत्ति तथा अनासक्ति की ओर न ले जाय, तो वह आन्तरिक जीवन के गठन में सहायक नहीं हो सकता। **यं साधन तं सिद्धि** – उपाय या साधन ठीक हो, तो सिद्धि स्वयं ही आती है। यही प्रकृति का नियम तथा सृष्टि का रहस्य है। और यही कर्मयोगी का आदर्श है।" आत्मानन्द के स्वयं के जीवन में कर्मयोग का यही आदर्श अभिव्यक्त हुआ था।

❖ **(क्रमश:)** ❖

भारत महान का विश्व को अवदान (पुस्तक समीक्षा)

समीक्षक – स्वामी प्रपत्त्यानन्द

भारत महान का विश्व को अवदान
लेखक - आचार्य डॉ. रमेश 'कृष्ण'
प्रकाशक - रमेश 'कृष्ण', श्रीकृष्ण प्रकाशन,
एच-१२८, कृष्ण-कुटीर, कृष्णपुरी, लाइनपार,
मुरादाबाद-४४००१, उत्तर प्रदेश (भारत)
दूरभाष - ९४१२६-६४५५८
पृष्ठ - ११७५ मूल्य - ११००/- रूपये ।

विष्णु पुराण अपने सुमधुर छन्दों में भारतवर्ष की महिमा का गायन करते समस्त जगत को अभिभूत कर देता है –

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात् ।।

– अर्थात् स्वर्गस्थ देवगण यह गान करते हैं कि धन्य हैं, वे लोग जो भारत भूमि में जन्म लिये हैं। वह भूमि स्वर्ग से भी अधिक है। क्योंकि वहाँ के प्राणियों को स्वर्ग-सुख के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति हेतु साधना का मार्ग भी उन्मुक्त है।

भारत की महिमा का वर्णन करते हुये स्वामी विवेकानन्द अपनी ओजस्वी वाणी में कहते हैं – "यदि पृथ्वी पर कोई ऐसा देश है, जिसे हम धन्य पुण्यभूमि कह सकते हैं,...यदि ऐसा कोई देश है, जहाँ मानव जाति की क्षमा, धृति, दया, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों का सर्वाधिक विकास हुआ है और ऐसा कोई देश है, जहाँ आध्यात्मिकता तथा आत्मान्वेषण का विकास हुआ है, तो वह भूमि भारत ही है।"

प्रो. मैक्समूलर कहते हैं – यदि मैं सम्पूर्ण विश्व में उस देश को ढूँढ़ने के लिये चारों दिशाओं में नेत्र उठाकर देखूँ जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य मुक्तहस्त लुटाकर पृथ्वी को स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अँगुली भारत की ओर जायेगी। इतना ही नहीं भाषा, धर्म, पुराण-कथा, न्याय-कानून, नीति-रीति, कला एवं प्राचीन शास्त्र इत्यादि, जो भी मानव-मस्तिष्क के विकास-क्षेत्र माने गये हैं, उनमें से किसी भी एक विषय का अध्ययन आरम्भ करने के बाद आगे बढ़ने के लिये इच्छा से अनिच्छा से तुम्हें (यूरोपीय लोगों को) भारत की यात्रा करनी ही होगी। क्योंकि मानव-इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, मूल्यवान और ज्ञानदायक सामग्री का विपुल भण्डार तो भारत में, केवल भारत में और भारत में ही संग्रहित है।"

लिन युतंग 'विज्डम ऑफ इंडिया' में कहते हैं – "भारत को चीन का धार्मिक और कल्पनाशील साहित्य-सृजन का गुरु होने का गौरव प्राप्त है और उसे त्रिकोणमिति, वर्गसमीकरण, व्याकरण, स्वर-विज्ञान, सहस्त्ररजनीचरित पशु-कथाओं, शतरंज तथा दर्शन के क्षेत्र में विश्वगुरु होने का सम्मान प्राप्त है। भारत ने बोकेशियो, गेटे, शॉपेनहावर तथा इमरसन प्रभृति विभूतियों को प्रभावित किया है।"

पाश्चात्य विद्वान विलियम एच. गिलवर्ट संसार को भारत की देन पर लिखते हैं – "मानवी-संस्कृति के इतिहास में भारतीय लोगों की प्रत्येक क्षेत्र में देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें बताया जाता है कि हमने भारत से मुर्गी-पालन, लाख (चपड़ा) नीबू, कपास, जूट, चावल, चीनी, नील, भैंस, दालचीनी, अदरक, पिप्पल, गन्ना, शतरंज का खेल, पचीसी, पोलो, शून्य, दशमलव-पद्धति, भाषा-विज्ञान सम्बन्धी जानकारी, नैतिकतापूर्ण कथा-संसार, आश्चर्यजनक कलात्मक उत्पादन तथा धर्म और दर्शन के क्षेत्र में, अध्यात्म और संन्यास सम्बन्धी अनेकानेक विचार ग्रहण किये हैं।"

भारतीय संस्कृति की प्राचीन गरिमा को भारत और विश्व के समक्ष प्रस्तुत करके ही स्वामी विवेकानन्द ने स्वदेशवासियों की खोयी आत्मशक्ति एवं विलुप्त आत्मगौरव को पुनः उनमें जागृत किया था। भारतीय सभ्यता के आदर्श 'त्याग और सेवा' ने सम्पूर्ण विश्व में एक आदर्श प्रस्तुत किया एवं परस्पर कटुता, संघर्ष एवं संकीर्णता को नष्ट कर, उसे परस्पर प्रेम, सद्भावना एवं उदारता में परिणत किया। भारतीय संस्कृति के द्वारा ही राष्ट्रीय पुनर्जागरण एवं वैश्विक क्रान्ति हुई थी, जो कई देशों की स्वतन्त्रता एवं समृद्धि में प्रतिफलित हुई और हो रही है।

महान एवं गौरवशाली भारतीय संस्कृति की महिमा से जन-मानस को अवगत कराने के लिये विद्वान लेखक आचार्य डॉ. रमेश 'कृष्ण' जी ने सद्यः प्रकाशित अपने नूतन ग्रन्थ 'महान भारत का विश्व को अवदान' के द्वारा भगीरथ प्रयास किया है। लेखक एक महान चिन्तक एवं अनुसंधाता हैं। उन्होंने इस पुस्तक में बड़ी ही शोधपरक सामग्री प्रमाण सहित प्रस्तुत की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ४२ अध्याय और २० परिशिष्टों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय भारतवर्ष को समर्पित है। इस अध्याय में विद्वान लेखक ने वेद-पुराणों, संहिता और अन्य ग्रन्थों से भारतवर्ष के नामकरण और उसकी सीमाओं का वर्णन किया है तथा अनेकों देश-विदेश के इतिहासकारों के मतों को उद्दृत किया है। अध्याय द्वितीय का शीर्षक 'धर्म और मानवता की – भारतभूमि' है। भारत की महिमा गायन करनेवाले विष्णुपुराण

का वह प्रसिद्ध श्लोक उदृत है – गायन्ति देवा:.. । इसमें प्राच्य-पाश्चात्य के कई विद्वानों की भारत की महिमामण्डित करनेवाली उक्तियों का उल्लेख है ।

अध्याय तीन 'भारतीय संस्कृति और इसकी कुछ विशेषतायें' शीर्षक से संज्ञित है । इसमें भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं पर व्यापक रूप से सप्रमाण प्रकाश डाला गया है । भारत ही संसार के सम्पूर्ण मानवों को सच्चरित्र और सदाचार की शिक्षा देता रहे, एसी ऋषियों की भविष्यवाणी है –

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मना ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा: ।।
मनुस्मृति, २/२०

फ्रेंच-विद्वान लुई जेकोलियत अपने 'भारत में बाइबिल' नामक ग्रन्थ में भारतभूमि के प्रति श्रद्धा समर्पित करते हुये लिखते हैं – प्राचीन भारत भूमि ! मानवता की जन्मदात्री ! प्रणाम । पूजनीया मातृभूमि, जिसको शताब्दियों से होनेवाले नृशंस आक्रमणों ने अभी तक विस्मृति की धूल के नीचे नहीं दबाया, तेरी जय हो !

श्रद्धा, प्रेम, काव्य एवं विज्ञान की पितृभूमे ! तेरा अभिवादन ! हम अपने पाश्चात्य भविष्य में तेरे अतीत के पुनरागमन की जय-जयकार मनावें !''

भारत संसार का मूल स्थान है । इस विश्व-माता ने अपनी सन्तान को नितान्त पश्चिम में भेजकर हमारी उत्पत्ति सम्बन्धी जिज्ञासा को अपने आप प्रमाणित कर दिया है, इसी ने हमलोगों को अपनी भाषा, अपना कानून, अपना चरित्र, अपना साहित्य और अपना धर्म प्रदान किया है ।''

– पुस्तक पृष्ठ -८३.

इसमें योगविद्या, राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक एकता, मातृ-पितृ-भक्ति आदि के दृष्टान्त दिये गये हैं ।

अध्याय चार में शाश्वत सनातन भारतीय संस्कृति के रक्षक एवं इस हेतु वलिदानी वीरों का उल्लेख है । सूरदास, द्वारा गोमाता और नारी की सर्वश्रेष्ठ पदस्थापना तथा श्रीकृष्ण और गोसेवा की चर्चा है । अध्याय पाँच-छह में वर्ण-व्यवस्था, आदर्श राज्य की कल्पना और आश्रम-व्यवस्था के सकारात्मत्क पहलुओं पर आलोक डाला गया है ।

अध्याय सात समन्वय और सहिष्णुता हेतु अर्पित है । इसमें प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रशंसा है । महाकवि जयशंकर प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' नाटक का पात्र भारत का गुणगान करते हुये कहता है – ''भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है । यह अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति विकीर्ण कर रहा है । वसुन्धरा का हृदय 'भारत' किस मूर्ख को प्यारा नहीं है? तुम देखते नहीं हो कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है । एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने घर में चित्रित कर रखा है ।''

पुस्तक – पृ.२३०

परवर्ती अध्यायों में भारतीय संस्कृति के मूल आधारों पर विस्तृत चर्चा की गई है । वैष्णव धर्म, श्रीरामकथा की प्राचीनता, महाभारत और समन्वय प्रक्रिया, वेद-उपनिषद तथा गीता पर विशद चर्चा है ।

'धर्म-प्राण संस्कृति' शीर्षक में भारतीय संस्कृति के मूल आदर्श त्याग और धर्म-परायणता का चित्रण किया गया है । गीता-गंगा-गायत्री हमारी संस्कृति के गौरव और गोविन्द जन-मानस के प्राण हैं । इनके स्मरण-मनन-वन्दन से मनुष्य सदा सुखी होता है तथा सदा हेतु पुनर्जन्म-दुख से मुक्त होता है –

गीता-गंगा च गायत्री गोविन्देति हृदिस्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ।। पुस्तक पृ.२७५

अध्याय-१५ में भारतीय संस्कृति में दर्शन, साहित्य और कला के द्वारा जैन और बौद्ध धर्मों के योगदान की चर्चा है । बुद्ध के उस महत्वपूर्ण उद्धरण का उल्लेख है – ''भिक्षुओ ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर अनुकम्पा करने के लिये, देवों और मनुष्यों के प्रयोजन हित-सुख के लिये विचरण करो । तुम उस सिद्धान्त का प्रचार करो, जो आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है और अन्त में उत्तम है ।'' पु.पृष्ठ - ३५५

अध्याय १६ से लेकर ४२ तक के अध्यायों में भारत के साथ पाश्चात्य देशों के क्या सम्बन्ध हैं, उनके भाषा, दर्शन, संस्कार और सभ्यता पर भारतीय संस्कृति का क्या प्रभाव है, इसका सोदाहरण विश्लेषण किया गया है । मातृ महिमा की वन्दना मनु इन शब्दों में करते हैं –

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।
उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्त्रं तु पितृन्माता, गौरवेणातिरिच्यते ।।

– अर्थात् दस उपाध्यायों से एक आचार्य का, सौ आचार्यों से पिता का और सहस्त्र पिताओं से माता का गौरव अधिक है ।'' पुस्तक-पृष्ठ - ३८२

इस पुस्तक में बीस परिशिष्ट हैं । परिशिष्ट एक सर्वजन पूज्य भारतीय संस्कृति में सर्वप्रथम अर्चनीय देवता श्रीगणेशजी को समर्पित है, जिनकी वन्दना वेद, पुराण, उपनिषद आदि करते हैं । इनकी कई देशों में विभिन्न प्रकार से पूजा की जाती है । गणेश पुराण में गणेश की वन्दना है –

ओंकाररूपी भगवान यो वेदादि प्रतिष्ठित: ।
यं सदा मुनयो देवा स्मरन्ति इन्द्रादयो हृदि ।।

अकार रूपी भगवानुक्तस्तु गणनायकः ।
यथा सर्वेषु कर्मसु पूज्यते सो विनायकः ।।

पृष्ठ–५९२

इनकी पूजा कई देशों में होती है ।

परिशिष्ट दो में श्रीराम और रामायण ने कैसे विश्व की यात्रा की, इसका वर्णन है । श्रीराम जैसा राजा पृथ्वी में नहीं हुआ – न हि राम सदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत । श्रीरामकथा कवियों की जननी है । इसकी पुष्टि महान कवि मैथिलीशरण गुप्त इन स्वर्णमयी पंक्तियों से करते हैं –

हे राम ! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है ।
कोई भी कवि बन जाय सहज संभाव्य है ।।

न्याय पर चलनेवाले पुरुष की सहायता पशु-पक्षी भी करते हैं –

यान्ति न्याय-प्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अन्याय-प्रवृत्तंतु स्वबान्धवोऽपि विमुंचति ।।पृष्ठ- ६१६

परिशिष्ट-३ महाभारत और भगवद्गीता पर है । महाभारत की विशेषता के विषय में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल जी कहते हैं – महाभारत हमारी संस्कृति का विश्वकोष है। महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञानसंहिता है ।'' पृ.६२७ । पितामह भीष्म धर्मराज युद्धिष्ठिर से राजा के गुणों को कहते हैं –

मालाकारोपमो राजन् भव मा अंगारिकोपमः ।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तं शक्ष्यसि पालयन् ।। पृष्ठ ६३५

अर्थात् राजा को माली के समान होना चाहिए। कोयला बनाने वाले के समान नहीं ।

सत्य की महिमा को दर्शाते हुये तपस्विनी शकुंतला सम्राट दुष्यन्त से कहती है –

वरं कूपशताद् वापि, वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ।।

अर्थात् सौ कुएँ खुदवाने की अपेक्षा एक बावड़ी बनाना उत्तम है । सौ बावड़ियों की अपेक्षा एक यज्ञ करना उत्तम है। सौ यज्ञ कर लेने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना उत्तम है । सौ पुत्रों की अपेक्षा सत्य का पालन श्रेष्ठ है । पृ.६५६ । इसी में द्रौपदी के तेजस्विनी महान चरित्र का चित्रण भी है ।

परिशिष्ट ४ में अभिज्ञान शकुन्तलम् का विश्व में प्रभाव और परिशिष्ट ५ में पंचतन्त्र की महायात्रा का वर्णन है ।

परिशिष्ट ६ में भारतीय संस्कृति के प्रतीक शंख चक्र, गदा, पद्म, कमल, आदि का तात्पर्य समझाया गया है ।

परिशिष्ट-७ में भारत के सर्व-प्राचीन शिक्षा केन्द्र तक्षशिला विश्वविद्यालय की स्थापना और उसकी विशेषताओं का वर्णन है । विक्रमशिला विश्वविद्यालय, ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय, उज्जयिनी, वाराणसी और नालन्दा विश्वविद्यालय की व्यवस्था का वर्णन है ।

परिशिष्ट ८ इसमें भारतीय आयुर्वेद विज्ञान की प्राचीनता तथा उसकी चिकित्सा आदि का अन्य देशों में प्रचार-प्रसारादि का उल्लेख है ।

परिशिष्ट - ९ में विश्व-प्रसिद्ध भगवान धन्वतरि, आचार्य सुश्रुत, जीवक, चरक, आदि की चिकित्सा का सविस्तार वर्णन है । इससे उस समय की विकसित चिकित्सा-पद्धति का प्रमाण मिलता है ।

परिशिष्ट १० प्राचीन भारत में नारी-प्रतिष्ठा को समर्पित है । प्रसिद्ध विद्वान एच. एच. विल्सन कहते हैं – ''यह बात अत्यन्त विश्वास के साथ कही जा सकती है कि किसी भी प्राचीन सभ्यता में महिलाओं को इतना सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं था, जितना सम्मानजनक स्थान उन्हें प्राचीन हिन्दू सभ्यता में प्राप्त था ।''पुस्तक पृष्ठ-७३१ । वेदों में नारियों की महिमा, रामायण-महाभारत कालीन नारियों के गौरव तथा पाश्चात्य नारियों की अवस्था का चित्रण है । स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – ''इस नश्वर संसार में ईश्वर के प्रेम के समीपतम माता का ही प्रेम है । हे माता ! दया करो, मैं तो कुपुत्र हूँ ! हे माँ ! कुपुत्र तो अनेक हुये हैं, किन्तु माता कुमाता कभी नहीं हुई ।'' पुस्तक पृष्ठ - ७६२ ।

परिशिष्ट-११ में आचार-विचार, वाणी की मधुरता, चतुर्आश्रम, पुरुषार्थ-चतुष्टय आदि की चर्चा है । आचार के संबंध में देवीभागवत में कहा गया है – ''आचार से आयु, संतान तथा प्रचुर अन्न मिलता है । आचार सम्पूर्ण पातकों को दूर कर देता है । मनुष्यों के लिये आचार को कल्याणकारक परम धर्म माना गया है । आचारवान मनुष्य इस लोक में सुख भोगकर परलोक में भी सुखी होता है ।'' पुस्तक पृ. ८०२

परिशिष्ट-१२ लेखक के सर्वाधिक श्रद्धेय एवं पूज्य संग्रामी आचार्य स्वामी विवेकानन्द जी को समर्पित है । इसमें हिन्दूधर्म के गौरव, इसकी रक्षा एवं इसके प्रचार-प्रसार हेतु स्वामीजी के संघर्ष की गाथा है । लेखक स्वयं लिखते हैं – ''स्वामी विवेकानन्द जी का व्यक्तित्व योद्धा सम्राट वाला था । वाणी में अमृत और अग्नि का भंडार भी था । उन्हें पराजित करना, द्वितीय स्थान पर ला देना, विश्वभर की विभूतियों के लिये असम्भव था । हम कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण में सोलह कलायें थीं, तो हम यह भी विचार कर सकते हैं कि युगावतार स्वामी विवेकानन्द में कौन-सी कला नहीं थी । भगवान जनार्दन सदा के लिये पूर्णता के आदर्श हैं, तो विवेकानन्द अपने युग के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं ।'' पृष्ठ-८२४

इसके अतिरिक्त स्वामीजी के संबंध में जनता में सुप्रचारित भ्रान्तियों 'शून्य' पर व्याख्यान आदि का खण्डन है ।

परिशिष्ट-१३ मानवता के हिमालय सम्राट आशोक की महानता को समर्पित है। इतिहासकार डॉ. रमेशचन्द्र मजुमदार लिखते हैं – ''अशोक के अद्भुत उत्साह और प्रयत्न के फलस्वरूप बौद्ध धर्म, जो अभी तक एक नगण्य सम्प्रदाय मात्र था, विश्वधर्म बन गया।'' पु पृ.-८६६

सम्राट अशोक ने एक जगह शिलालेख में लिखवा रखा था – ''सर्वलोक-हित से बढ़कर दूसरा कोई अच्छा कार्य नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ, वह इसलिये है कि प्राणिमात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है, उससे मैं मुक्त हो जाऊँ और उनका इस लोक तथा पर लोक में हित बढ़े।'' पु.पृ.-८६७

राजा की प्रजा के प्रति कैसी दृष्टि हो? सम्राट अशोक सारी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह सेवा करते हैं। वे अपने अनुचरों से कहते हैं – ''तुम लोगों को सहस्रों मनुष्यों के ऊपर इसलिये नियुक्त किया गया है, जिससे हम सत्पुरुषों के स्नेहपात्र हो सकें। सब लोग मेरी सन्तान के समान हैं। जिस तरह मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक और परलोक में सब प्रकार का सुख प्राप्त करे, ठीक उसी प्रकार मैं सभी मनुष्यों के लिये मंगल और सुख की कामना करता हूँ।''८८०।

परिशिष्ट-१४, का शीर्षक है 'अवतार विभूति और कुछ सांस्कृतिक प्रतीक'। इसमें अवतार का तात्पर्य एवं उद्देश्य, तथा अवतारवाद का उद्‌भव एवं विकास पर विस्तृत विश्लेषण अनेकों ग्रन्थों से ससंदर्भ किया गया है।। अवतारवाद के संबंध में लेखक कहते हैं – ''अवतारवाद ने भारतीय जीवन से निराशा के गहन अन्धकार को दूर कर आशा की किरण का संचार किया। अवतारवाद ने राष्ट्रीय जीवन को सुरक्षित किया।'' पुस्तक पृ.-९०५

परिशिष्ट-१५-१६ – में कुछ ऐतिहासिक भ्रान्तियों का निवारण है, जो विचारणीय हैं।

परिशिष्ट-१७ में श्रीकृष्ण-राधिका की ऐतिहासिकता पर विश्लेषण किया गया है। यद्यपि यह विभिन्न इतिहासकारों की प्राप्त तथ्यों पर बौद्धिक समीक्षा है। किन्तु आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति बुद्धि से नहीं, अपितु मन-बुद्धि के अतीत होने पर होती है। इस अवाङ्मनस्गोचर सत्य परमात्मा एवं उनकी लीलाओं की अनुभूति सन्त-महात्माओं ने किया। इस तत्त्व के प्रमाणक साधु, ऋषि वृन्द ही हैं।

परिशिष्ट-१८ का नाम है 'विश्वचिन्तकों की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द'। इसमें स्वामीजी के सर्वांगीण व्यक्तित्व का प्राच्य-पाश्चात्य मनीषियों द्वारा वन्दन किया गया है। डॉ. राधाकृष्णन जी कहते हैं – ''कोलकाता नगर ने शिक्षा, विज्ञान, साहित्य एवं आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में अनेक प्रतिभावान महापुरुषों को जन्म दिया है। इन सबमें शीर्ष स्थानीय हैं – स्वामी विवेकानन्द। वे हमारे देश की भावनाओं के मूर्तरूप थे। वे भारत की महत्त्वाकांक्षाओं एवं उनकी पूर्ति के प्रतीक थे। उन्होंने भारत की इस चिरन्तन भावधारा को तात्पर्य एवं वाणी प्रदान की।'' पु.पृष्ठ ९७१

लोकनायक जयप्रकाश नारायण कहते हैं –''स्वामी विवेकानन्द सत्यद्रष्टा महान ऋषियों की कोटि के थे। उनकी प्रज्ञा महान थी। पर उससे भी महान था, उनका हृदय। उनकी बुद्धि परम्परागत आत्मदर्शन में डूब जाने को व्यग्र थी, जबकि उनका हृदय आसपास के लोगों के दुख से विगलित हो रहा था।'' पु.पृ.९८३

परिशिष्ट-१९ – इसमें भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग 'गुप्तयुग' पर प्रकाश डाला गया है।

परिशिष्ट-२० में प्राचीन भारत में शिक्षा के स्वरूप पर विश्लेषण है। वैदिक कालीन शिक्षा और गुरुकुल-वास का सविस्तार वर्णन है। ऋषि वेद माता से प्रार्थना करते हैं – **''स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्** – अर्थात् हे वेदमाता ! हमें भक्ति, मुक्ति, आयु, प्राण, संतति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज सभी प्रदान करें।'' पुस्तक, पृ. १०१९

इसके अतिरिक्त पृष्ठ १०३५-३६ में भारतीय इतिहास की प्रमुख तीथियाँ आदि हैं। पृष्ठ १०५४ से ११४२ तक ८८ पृष्ठों में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक महापुरुषों एवं स्थानों के प्राचीन चित्र, प्राचीन भारत के विभिन्न कालों के कई मानचित्र, तक्षशिला, नालन्दा विश्वविद्यालय के खंडहरों का चित्र, सुश्रुत वर्णित शल्य-चिकित्सा-यन्त्र के कई चित्र, तिब्बत में गायत्री मन्त्र आदि के चित्र हैं। ११४३ से ११७२ तक पुस्तक से संदर्भित ७९९ पुस्तकों की पता सहित सूची दी गयी है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के गौरव से गौरवान्ति, स्वस्थ सदाचारी समाज के निर्माण तथा प्रेम, शान्ति, सदभावयुक्त सुख-सम्पन्न विश्व के पुनर्निर्माण में सहयोगी इस ग्रन्थ का पठन-चिन्तन और मनन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए।

मैं डॉ. रमेशचन्द्र कृष्ण जी का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने ७२ वर्ष की उम्र में प्रकाशन-सम्बन्धी अनेकों संघर्ष करते हुए तीन वर्ष में ही ऐसा महान ग्रन्थ विश्व की सेवा में समर्पित किया। यह उनकी कर्मनिष्ठा, पुरुषार्थ, लक्ष्य के प्रति समर्पण तथा सर्वोपरि श्रीकृष्ण-कृपा का ही परिणाम है। यह ग्रन्थ अपने मूल उद्देश्य भारतीय संस्कृति की गरिमा को जन-जन में जगाने में सफल हो, यही हार्दिक शुभकामना और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ ! हरि ॐ! ❑

कठोपनिषद्-भाष्य (७)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।२३।।

अन्वयार्थ – (नचिकेता के वैराग्य की परीक्षा हेतु यम उसे प्रलोभन देते हुए कहते हैं –) **शतायुषः** सौ वर्ष की आयुवाले **पुत्र-पौत्रान्** पुत्रों तथा पौत्रों को **वृणीष्व** माँग लो; **बहून्** काफी संख्या में **पशून्** गो आदि पशुओं को **हस्ति-हिरण्यम्** हाथी तथा स्वर्ण आदि धन **अश्वान्** घोड़े, **भूमेः** भूमि का **महत्** विस्तृत **आयतनम्** भाग या साम्राज्य **वृणीष्व** माँग लो; **च** और **स्वयं** (तुम) स्वयं **यावत्** जितने भी **शरदः** वर्ष **इच्छसि** इच्छा हो, **जीव** जीवित रहो।

भावार्थ – (नचिकेता के वैराग्य की परीक्षा हेतु यम उसे प्रलोभन देते हुए कहते हैं –) सौ वर्ष की आयुवाले पुत्रों तथा पौत्रों को माँग लो; काफी संख्या में गो आदि पशुओं को हाथी, स्वर्णादि धन, घोड़े, विस्तृत भूभाग या साम्राज्य माँग लो; और (तुम) स्वयं जितने भी वर्ष इच्छा हो, जीवित रहो।

भाष्य – एवमुक्तः अपि पुनः प्रलोभयन् उवाच मृत्युः –

भाष्य-अनुवाद – नचिकेता द्वारा ऐसा कहे जाने पर भी यमराज उसे प्रलोभित करते हुए बोले –

भाष्य – शतायुषः शतं वर्षाणि आयूंषि येषां तान् शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। किं च, गो-आदि-लक्षणान् बहून् पशून् हस्ति-हिरण्यम्, हस्ती च हिरण्यं च हस्ति-हिरण्यम्, अश्वान् च। किं च, भूमेः पृथिव्याः महत् विस्तीर्णम् आयतनम् आश्रयं मण्डलं साम्राज्यं वृणीष्व। किं च, सर्वम् अपि एतत्-अनर्थकं स्वयं चेत् अल्पायुः इति अतः आह – स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्र-इन्द्रिय-कलापं शरदः वर्षाणि यावत् इच्छसि जीवितुम् ।।२३।।

भाष्य-अनुवाद – सौ वर्ष की आयु हों, जिनकी ऐसे शतायुष पुत्रों तथा पौत्रों को माँग ले। इसके अतिरिक्त बहुत संख्या में गो आदि पशुओं को ले ले; हाथियों, स्वर्ण तथा घोड़ों को ले ले। इसके सिवा पृथ्वी के विशाल भूभाग, आश्रय या साम्राज्य माँग ले। फिर यदि व्यक्ति स्वयं ही अल्पायु वाला हो, तो यह सब निरर्थक ही है, अतः कहते हैं – तुम स्वयं भी जितने वर्ष चाहो, अपनी सक्षम इन्द्रियों के साथ जीवन धारण करो।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ।।२४।।

अन्वयार्थ – यदि यदि (तुम) **वरम्** अन्य कोई वर **एतत्-तुल्यम्** इसकी बराबरी का **मन्यसे** मानते हो, (तो उसे) **वृणीष्व** माँग लो, **वित्तम्** धन-सम्पदा **च** और **चिरजीविकाम्** लम्बी आयु (माँग लो)। **नचिकेतः** हे नचिकेता, **त्वम्** तुम **महाभूमौ** विशाल भूखण्ड या साम्राज्य के **एधि** सम्राट् बन जाओ; (मैं) **त्वा** तुम्हें **कामानाम्** काम्य वस्तुओं के **काम-भाजम्** यथेच्छा भोग में समर्थ **करोमि** बना देता हूँ।

भावार्थ – यदि तुम अन्य कोई वर इसके बराबरी का मानते हो, तो उसे भी माँग लो, धन-सम्पदा तथा लम्बी आयु माँग लो। हे नचिकेता, तुम विशाल भूखण्ड के सम्राट् बन जाओ; (मैं) तुम्हें काम्य वस्तुओं के यथेच्छा भोग में समर्थ बना देता हूँ।

भाष्य – एतत्-तुल्यम् एतेन यथा उपदिष्टेन सदृशम् अन्यम् अपि यदि मन्यसे वरं तं अपि वृणीष्व। किं च, वित्तं प्रभूतं हिरण्य-रत्न-आदि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्व इति एतत्। किं बहुना? महाभूमौ महत्यां भूमौ राजा नचिकेतः त्वम् एधि भव। किं च अन्यत् कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि, सत्य-संकल्पो हि अहं देवः ।।२४।।

भाष्य-अनुवाद – यदि तुम किसी दूसरे वर को पहले बताये गये वर की बराबरी का समझते हो, तो उसे भी माँग लो। इसके अतिरिक्त सोने, जवाहरात आदि सम्पदा के साथ लम्बी आयु माँग लो। इतना ही क्यों, तुम विशाल भूखण्ड के राजा बन जाओ। इसके सिवा मैं तुम्हें दिव्य तथा मानवीय भोगों का भोक्ता बना दूँगा, क्योंकि मैं सत्य-संकल्प देवता हूँ (मेरा कहा कभी व्यर्थ नहीं जाता।)

ये ये कामा दुर्लभो मर्त्यलोके
सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।। २५।।

अन्वयार्थ – **मर्त्यलोके** पृथ्वी पर **ये ये** जो जो **कामाः** चाहने योग्य वस्तुएँ **दुर्लभाः** दुर्लभ हैं, **सर्वान्** उन समस्त **कामान्** काम्य वस्तुओं को **छन्दतः** अपनी इच्छानुसार **प्रार्थयस्व** माँग लो। **इमाः** इन **सरथाः** रथ पर सवार **सतूर्याः** विविध वाद्ययंत्र धारण की हुई **रामाः** सुन्दर स्त्रियों को (ले लो); **इदृशाः** ऐसी रमणियाँ **मनुष्यैः** मनुष्यों के द्वारा **हि** निश्चित रूप से **लम्भनियाः** प्राप्य **न** नहीं हैं; **मत्-प्रत्ताभिः** मेरे द्वारा प्रदत्त **आभिः** इसके द्वारा **परिचारयस्व** अपनी सेवा कराओ। (परन्तु) **नचिकेतः** हे नचिकेता, **मरणम्** मृत्यु के विषय में **अनुप्राक्षीः** इस प्रकार प्रश्न **मा** मत करो।

भावार्थ – पृथ्वी पर जो-जो चाहने योग्य वस्तुएँ दुर्लभ हैं, उन समस्त भोग्य वस्तुओं को अपनी इच्छानुसार माँग लो। रथ पर सवार, विविध वाद्ययंत्र धारण की हुई, इन सुन्दर स्त्रियों को ले लो; ऐसी रमणियाँ मनुष्यों के द्वारा निश्चित रूप से प्राप्य नहीं हैं; मेरे द्वारा प्रदत्त इसके द्वारा अपनी सेवा कराओ। परन्तु हे नचिकेता, मृत्यु के विषय में इस प्रकार प्रश्न मत करो।

भाष्य – ये ये कामाः प्रार्थनीयाः दुर्लभाः च मर्त्यलोके, सर्वान् तान् कामान् छन्दतः इच्छातः प्रार्थयस्व। किं च, इमाः दिव्या अप्सरसः, रमयन्ति पुरुषान् इति रामाः, सह रथैः वर्तन्ते इति सरथाः, सतूर्याः स-वादित्राः, तान् च, न हि लम्भनीयाः प्रापणीयाः ईदृशाः एवंविधाः मनुष्यैः मर्त्यैः अस्मद्-आदि-प्रसादम्-अन्तरेण। आभिः मत्-प्रत्ताभिः मया प्रदत्ताभिः परिचारिकाभिः परिचारयस्व आत्मानम्, पाद-प्रक्षालन-आदि-शुश्रूषां कारय आत्मनः इत्यर्थः। हे नचिकेतः, मरणं मरण-सम्बद्धं प्रश्नं - प्रेते अस्ति न अस्ति इति काक-दन्त-परीक्षा-रूपं मा अनुप्राक्षीः मा एवं प्रष्टुम् अर्हसि ।।२५।।

भाष्य-अनुवाद – जो-जो प्राप्त करने योग्य वस्तुएँ मर्त्यलोक में दुर्लभ हैं, उन सबको अपनी इच्छानुसार माँग लो। इसके अतिरिक्त, रामा: अर्थात् पुरुषों के मन को रम्य लगनेवाली इन दिव्य अप्सराओं को ले लो, जो वाद्ययंत्रों को लिये हुए रथों में सवार हैं। मर्त्यलोक में, हम जैसों की कृपा के बिना, ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त करना असम्भव है।

मेरे द्वारा प्रदत्त इन परिचारिकाओं से अपनी सेवा करवाओ, अर्थात् अपने चरण धोने आदि सेवा में लगाओ। (परन्तु) हे नचिकेता, मृत्यु के बारे में यह प्रश्न कि देह के मरने के बाद कुछ रहता है या नहीं – कौए के दाँतों की जाँच के समान निरर्थक प्रश्न पूछना तुम्हारे लिये उचित नहीं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता (जारी)

सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेवं
तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो
विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः।।२३०।।

अन्वय – सकलं सद्-ब्रह्म-कार्यम्, सत् एवम्। एतत् तत्-मात्रम्। ततः अन्यत् अस्ति न। यः 'अस्ति' इति वक्ति, तस्य मोहः न विनिर्गतः, (सः) निद्रितवत् प्रजल्पः।

अर्थ – सद्-ब्रह्म का कार्य (परिणाम) होने के कारण यह सब कुछ (पूरा विश्व-ब्रह्माण्ड) तन्मात्र अर्थात् ब्रह्म मात्र ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो व्यक्ति (जगत् को) उससे भिन्न मानता है, उसका मोह (भ्रान्ति) अभी दूर नहीं हुआ है और वह मानो निद्रामग्न के समान बड़बड़ा रहा है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी
श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा।
तस्मादेतद्ब्रह्ममात्रं हि विश्वं
नाधिष्ठानाद्भिन्नताऽऽरोपितस्य ।।२३१।।

अन्वय – 'इदं विश्वं ब्रह्म एव' – इति एव अथर्वनिष्ठा वरिष्ठा श्रौती वाणी ब्रूते। तस्मात् हि एतत् विश्वं ब्रह्ममात्रम्। अधिष्ठानात् आरोपितस्य भिन्नता न।

अर्थ – अथर्ववेद के अन्तर्गत आनेवाली महती श्रुति-वाणी[1] कहती है – यह विश्व (सब कुछ) ब्रह्म ही है – अतएव यह सब कुछ ब्रह्म मात्र ही है। आरोपित वस्तु का अधिष्ठान (आधार) के साथ कोई भेद नहीं होता।[2]

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मना
न तत्त्वहानिर्निगमाप्रमाणता।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्या-
न्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ।।२३२।।

अन्वय – यदि एतद् जगत् आत्मना सत्यं स्यात्, तत्त्वहानिः न। निगम-अप्रमाणता, ईशितुः अपि असत्य-वादित्वम् स्यात्। महात्मनाम् एतत् त्रयं साधु हितं न।

अर्थ – यदि यह जगत् स्वरूपत: सत्य होता, तो उसका कभी नाश नहीं होता। इससे निगम (वेद) तथा भगवान का भी (गीतोक्त वाणी का) मिथ्यात्व प्रमाणित हो जाता। (अत: जगत् को सत्य मानने से उत्पन्न होनेवाले) ये तीनों दोष विचारशील व्यक्तियों के लिये स्वीकार्य तथा हितकर नहीं हैं।

---

१. द्रष्टव्य – अथर्ववेदीय शाखा का – मुण्डकोपनिषद्, २/२/११

२. रज्जु-सर्प के सुप्रसिद्ध दृष्टान्त में रस्सी अधिष्ठान है और सर्प आरोपित वस्तु।

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीक्लृपत् ।। २३३

अन्वय – वस्तुतत्त्वज्ञः ईश्वरः 'अहं तेषु न च अवस्थितः, मत् स्थानि न च भूतानि'[3] इति एवं एव व्यचीक्लृपत् ।

अर्थ – वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता भगवान श्रीकृष्ण ने 'मैं भूतों में स्थित नहीं हूँ ... और वे भूतगण भी मुझमें स्थित नहीं हैं' – कहकर पूर्वोक्त मत (जगत् का मिथ्यात्व) का समर्थन किया है ।

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम् ।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ।।२३४

अन्वय – विश्वं यदि सत्यं भवेत्, सुषुप्तौ उपलभ्यताम् । यत् किञ्चित् न उपलभ्यते, अतः असत् स्वप्नवत् मृषा ।

अर्थ – यदि यह (पंचभूतात्मक) जगत् सत्य होता, तो सुषुप्ति अर्थात् प्रगाढ़ निद्रा के समय भी अनुभूत होता । परन्तु चूँकि उस समय यह जरा भी अनुभव में नहीं आता, अत: यह स्वप्न के समान असत्य – मिथ्या है ।

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः
पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत् ।
आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताऽ-
धिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ।।२३५।।

अन्वय – अतः परात्मनः पृथक् जगत् न अस्ति । पृथक्-प्रतीतिः तु गुणादिवत् मृषा (अस्ति) । आरोपितस्य किम् अर्थवत्ता अस्ति? अधिष्ठानं भ्रमेण तथा आभाति ।

अर्थ – अत: इस जगत् का परमात्मा से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है । इसकी पृथक् सत्ता गुणों (यथा आकाश में नीलापन) आदि के समान मिथ्या है । आरोपित गुण की क्या कोई सत्ता होती है? वस्तुत: उसका अधिष्ठान ही उस (आरोपित गुण या वस्तु) के रूप में प्रतीत होता है । (रस्सी ही सर्प के रूप में प्रतिभात होती है । सर्प की वास्तविक सत्ता नहीं होती ।)

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं
ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः ।
इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते
त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ।।२३६।।

अन्वय – भ्रान्तस्य यद् यद् भ्रमतः प्रतीतं तत् तत् ब्रह्म एव, शुक्तिः हि रजतम् । इदन्तया ब्रह्म सदा एव रूप्यते । तु आरोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ।

अर्थ – अज्ञानी व्यक्ति को भ्रमवश जो कुछ अनुभव होता है, वह सब ब्रह्म ही है । सीपी (ब्रह्म) ही चाँदी (जगत्) के रूप में प्रतिभात होती है । इस जगत् के रूप में सदा ब्रह्म ही प्रकाशित होता रहता है । (परन्तु) ब्रह्म पर आरोपित यह जगत् तो केवल नाममात्र को है ।

३. गीता, अध्याय ९/४-५ ४. द्रष्टव्य – श्लोक संख्या १९५

ब्रह्म-निरूपण

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं
विशुद्ध-विज्ञानघनं निरञ्जनम् ।
प्रशान्तमाद्यन्त-विहीनमक्रियं
निरन्तरानन्द-रस-स्वरूपम् ।।२३७।।
निरस्त-मायाकृत-सर्वभेदं
नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् ।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं
ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति ।।२३८।।

अन्वय – अतः इदं किञ्चित् चकास्ति परम् ब्रह्म । (तत्) सत् अद्वितीयम् विशुद्ध-विज्ञान-घनम् निरञ्जनम् प्रशान्तम् आदि-अन्त-विहिनम् अक्रियम् निरन्तर-आनन्द-रस-स्वरूपम् निरस्त-मायाकृत-सर्व-भेदम् नित्यम् सुखम् निष्कलम् अप्रमेयम् अरूपम् अव्यक्तम् अनाख्यम् अव्ययम् स्वयंज्योतिः ।

अर्थ– अत: जो कुछ भी इस जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, वह सब वस्तुत: ब्रह्म ही है । वह सत्य-स्वरूप ब्रह्म अद्वितीय, विशुद्ध विज्ञानघन (चैतन्य-स्वरूप), निरंजन (निष्पाप), प्रशान्त (क्षोभरहित), आदि-अन्त (उत्पत्ति-विनाश) से रहित, निष्क्रिय, निरन्तर-आनन्द-रस-स्वरूप, मायाकृत सारे भेदों से रहित, नित्य, सुखरूप, निष्कल (ह्रास-वृद्धि-रहित), प्रमाण के अतीत, निराकार, (मन-वाणी के) अगोचर, अविनाशी तथा स्वयं-ज्योति (दूसरे के द्वारा अप्रकाश्य) है ।

ज्ञातृज्ञेय-ज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम् ।
केवलाखण्ड-चिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः ।।२३९।।

अन्वय – ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-शून्यं अनन्तं निर्विकल्पकं केवल -अखण्ड-चिन्मात्रं परं तत्त्वं बुधाः विदुः ।

अर्थ – ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों द्वारा साक्षात्कार किया जानेवाला यह परम तत्त्व (ब्रह्म) – ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान (जाननेवाला, जानने-योग्य तथा जानने की क्रिया) – इस त्रिविध कल्पना से रहित, अनन्त, निर्विकल्प (संकल्प-विकल्प-रहित), अद्वितीय तथा अखण्ड चैतन्य-स्वरूप है ।

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णमहं महः।।२४०।।

अन्वय – अहेयम् अनुपादेयम् मनोवाचाम्-अगोचरम् अप्रमेयम् अनादि-अन्तम् पूर्णम् महः ब्रह्म अहम् ।

अर्थ – मैं ही वह तेजोमय पूर्ण ब्रह्म हूँ, जिसका त्याग नहीं किया जा सकता, जिसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, जो मन-वाणी के परे है, जो अप्रमेय (जिसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध न किया जा सके) है और जो अनादि तथा अनन्त है ।

❖ (क्रमशः) ❖

छत्तीसगढ़–मध्यप्रदेश भाव-प्रचार-परिषद की वार्षिक सभा आयोजित की गयी

छत्तीसगढ़ तथा मध्यप्रदेश के रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार परिषद की वार्षिक सभा विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में २६ और २७ मार्च, २०११ को आयोजित की गई। रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि स्वामी रघुनाथानन्द जी, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी, रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर, के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी, रामकृष्ण मिशन आश्रम, इन्दौर के सचिव स्वामी राघवेन्द्रानन्द्र जी, रामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक के सचिव स्वामी विश्वात्मानन्द जी तथा भाव-प्रचार परिषद के १९ केन्द्रों में से १६ केन्द्रों के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। छत्तीसगढ़-मध्यप्रदेश भाव-प्रचार परिषद के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया जी ने कहा कि भाव-प्रचार परिषद की सभा में महाराज-गणों के विचारों से नई प्रेरणा मिली तथा आयोजन पूरी तौर से सफल व सुव्यवस्थित रहा।

स्वामी विवेकानन्द के १५०वें जयन्ती कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य में विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर में राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन

स्वामी विवेकानन्द के १५०वें जयन्ती कार्यक्रम के उपलक्ष्य में छत्तीसगढ़ शासन, संस्कृति विभाग, विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर एवं मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार परिषद के संयुक्त तत्त्वावधान में 'विवेकानन्द और भारत-तत्त्व' विषय पर २८ तथा २९ मार्च को एक द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें देश के कई भागों से १०२ लोगों ने भाग लिया तथा ५२ लोगों ने अपने निबन्ध-आलेख पढ़े।

महामहिम राज्यपाल का सम्बोधन

संगोष्ठी का उद्घाटन सभा के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ राज्य के महामहिम राज्यपाल श्री शेखर दत्त जी ने किया। कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि थे रामकृष्ण मिशन, इन्दौर के सचिव स्वामी राघवेन्द्रानन्द और सुप्रसिद्ध चिन्तक एवं वरिष्ठ अधिवक्ता श्री कनक तिवारी जी। सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने की। मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के महामहिम श्री शेखर दत्त जी ने अपने अभिभाषण में कहा –

''स्वामी विवेकानन्द जी की १५० वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित इस राष्ट्रीय सेमीनार 'विवेकानन्द और भारत-तत्त्व' के आयोजन के लिए सबसे पहले मैं विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर को बहुत-बहुत बधाइयाँ तथा शुभकामनाएँ देता हूँ। पूरे देश में स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती के कार्यक्रम उत्साहपूर्वक मनाये जा रहे हैं। जब स्वामी विवेकानन्द को जन्म लिए करीब डेढ़ सौ वर्ष हो चुके हैं, देश को आजादी मिले साठ वर्ष से अधिक हो गए हैं और हमारा देश तमाम तरह की चुनौतियों, कठिनाइयों, युद्धों आदि से गुजरता हुआ, एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जब उसके सामने विश्व में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रखने की चुनौती और दबाव दोनों हों, ऐसे समय में स्वामी विवेकानन्द के विचारों और कार्यों पर चर्चा करना आवश्यक लगने लगा है। विवेकानन्द विद्यापीठ ने इस सेमीनार के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द के विचारों विशेषकर उनके 'भारत-तत्त्व' पर विचार-विमर्श करने का जो बीड़ा उठाया है, मुझे उम्मीद है कि इसमें वे पूरी तरह सफल होंगे।

''प्रत्येक देश का एक आदर्श, एक संस्कृति और अपनी एक विशेष पहचान होती है। इसी के चारों ओर देश के राष्ट्रीय जीवन का ताना-बाना बुना रहता है। स्वामी विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। वे एक ऐसे सागर की तरह हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा वेद, उपनिषद् और विज्ञान – एक साथ समाहित होते हैं। शायद यही कारण है कि गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि ''यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिये।''

''आज हमारा देश संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। हजारों वर्षों से चली आ रही परम्पराओं और संस्कृति को चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, ये चुनौतियाँ कभी आकाश मार्ग से सांस्कृतिक आक्रमण के रूप में आती हैं, तो कभी सीमाओं पर बढ़ते तनाव से और कभी भारत के अन्दर संकीर्णता, असमानता, भेदभाव, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार और बेरोजगारी जैसी समस्याओं के रूप में। स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि भारत का कल्याण इसकी शक्ति-साधना में ही निहित है। उन्होंने इसके लिए भारतवासियों और खासकर

युवाओं का आह्वान किया कि वे अपनी छिपी ताकत को उजागर करें। लोगों में साहस तथा बुद्धि छिपी है, उसे बाहर निकालने की जरूरत है। उन्होंने कहा, 'मैं भारत में लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है, जो वज्रों से बनता है।'' उन्होंने कहा 'भारतवासी भाइयो ! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयन्ती तुम्हारी राष्ट्र की देवियाँ हैं। हे वीरो, ललकार कर कहो कि मैं भारतीय हूँ और भारत का निवासी हूँ। हर भारतीय चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, निम्न जाति का भारतीय सब मेरे भाई हैं। भारत मेरा जीवन है और भारत मेरा प्राण है।'

''स्वामी विवेकानन्द जी ने अपनी आवाज उस समय बुलन्द की थी, जब देश पराधीनता के काले साये में अपनी साँसें ले रहा था। स्वामीजी भारतमाता के ऐसे सपूत थे, जिन्होंने अपने देश के लोगों की स्थिति को सुधारने के लिए अपना जीवन उनकी सेवा में समर्पित कर दिया। उनका हृदय अत्यधिक संवेदनशील था। देशवासियों की दुर्दशा पर विचार करते हुए वे सदैव दुखी रहते और उनकी स्थिति को सुधारने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थे। उन्होंने अनभुव किया था कि अशिक्षा तथा गरीबी के कारण देश के लोग असहाय हो गये हैं। निरन्तर गुलामी से जकड़े रहने के कारण देशवासियों का आत्मबल इतना गिर गया है कि वे अपने को हीन और दुर्बल समझ रहे हैं; अपनी विराट् आध्यात्मिक विरासत को भूल गये हैं। उन्हें लगा कि जब तक इंग्लैंड-अमेरिका के लोग इसकी प्रशंसा नहीं करते, ये उसके महत्त्व को नहीं समझेंगे। उन्होंने अपने देश के उस महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत का महत्त्व – अपने देशवासियों को अनुभव कराया। वे भारतीय युवाओं में देश का भविष्य देखते थे।

''स्वामी विवेकानन्द समग्र राष्ट्र को जाग्रत करना चाहते थे और इसी में आजीवन लगे रहे। इसके लिए उन्होंने जहाँ एक ओर विचारों की उच्चता, धर्म और आध्यात्मिकता पर बल दिया, वहीं दूसरी ओर देश में व्याप्त गरीबी को समाप्त करना आवश्यक बताया। वे कहते थे कि जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं पाप है। जब देश के लोग निर्बल और असहाय हो रहे हों, तब हवन-कुण्ड में घी डालना अमानवीय कार्य है। उन्होंने चरित्र-निर्माण पर ही सर्वोच्च बल दिया।

''स्वामीजी ने भारतवर्ष तथा इसके विकास का जो सपना देखा था, वह युवाओं से ही पूरा हो सकता है। वे देश के हर बच्चे में अपार गुण, नैतिक चरित्र और क्षमताएँ देखना चाहते थे। उन्होंने देश की गरीबी को दूर करने हेतु पाश्चात्य देशों के विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी को भी अपनाने की वकालत की थी। उनका चिन्तन एकपक्षीय नहीं था। इस राष्ट्र के हर नागरिक को वे आन्तरिक और बाह्य – दोनों ही नजरिये से मजबूत देखने चाहते थे। भारत का हर बच्चा स्वामी विवेकानन्द की कल्पना के अनुसार अपना व्यक्तित्व गढ़ने की सामर्थ्य रखता है। भारत-निर्माण के लिये ऐसे ही बच्चों, युवाओं एवं नागरिकों के मजबूत कन्धों की जरूरत है।

''स्वामी विवेकानन्द के कण्ठ से निकलनेवाली आवाज भारतीय संस्कृति की आवाज थी। इस संस्कृति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं – पहली है सहिष्णुता अर्थात् उदारता। स्वामी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता संकीर्ण नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय थी। वे सार्वभौमिक धर्म तथा विश्व-संस्कृति के प्रतीक हैं। लेकिन इसके साथ-ही उन्हें भारत की प्राचीन संस्कृति और आध्यात्मिक विरासत पर गर्व भी था। उन्हें विश्वास था कि भविष्य और भी महान् है, परन्तु वे वर्तमान की रूढ़िवादिता और समय के पिछड़ेपन से बड़े दुखी थे, जिनके कारण महान् भारतीय जनता गरीबी तथा अन्धविश्वास में फँसी हुई है और विश्व की वर्तमान विचारधारा से पिछड़ गयी है।

''स्वामी विवेकानन्द ने देशवासियों को स्वाभिमान सिखाया और देशवासियों से अनुरोध किया कि वे आपसी भेदभाव भुलाकर संगठित बनें, सबल बनें और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ विश्व-मानवता के कल्याण के लिये समर्पित हो जायँ। उनके मतानुसार सर्व-धर्म-समभाव अपने आप में विचार की सम्भावनाओं का एक समुद्र है, जिसमें वे तमाम बातें छिपी हुई हैं, जिनको नज़रअंदाज करके हम एक आदर्श राष्ट्र की परिकल्पना नहीं कर सकते।

''स्वामी विवेकानन्द भारतीय नवजागरण के इतिहास के एक अद्वितीय व्यक्ति हैं। उनके जीवन-दर्शन से सीख लेकर समाज एवं देश को मजबूत बनाया जा सकता है। आज जरूरत है कि समाज का हर व्यक्ति उन्हीं की तरह समाज में व्याप्त तकलीफों को अनुभव करे और उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो। उनकी सेवा-भावना को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाने की जरूरत है।

''जब परमहंस रामकृष्णदेव ने स्वामी विवेकानन्द को धर्म की पुनर्स्थापना का कार्य सौंपा था, उस समय उन्होंने कहा था कि खाली पेट धर्म नहीं होता। इस कारण यदि भारत और विश्व का आध्यात्मिक पुनर्जागरण करना है, तो सबसे पहले गरीबों की दशा सुधारनी होगी। हम सबके लिए यह बड़े ही गौरव और सम्मान की बात है कि स्वामी विवेकानन्द के गुरुदेव के नाम से चलाए जा रहे रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य न केवल चिन्तन के माध्यम से मुक्ति का है, बल्कि दीन-दुखियों की सेवा के द्वारा भगवान को खोजने का भी है।

''स्वामी आत्मानन्द जी ने १९५९ ई. में रायपुर नगर में छत्तीसगढ़ में रामकृष्ण मिशन के कार्यों की नींव डाली थी।

फिर १९८५ ई. में बस्तर में रहनेवाली अत्यन्त पिछड़ी जाति अबूझमाड़ियों के सर्वांगीण विकास के लिए नारायणपुर में रामकृष्ण मिशन आश्रम भी प्रारम्भ किया। इन आश्रमों ने अपने सेवा-कार्यों से देश भर में एक अलग स्थान बनाया है।

"यह भी हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात है कि स्वामी विवेकानन्द ने अपनी किशोरावस्था के दो महत्वपूर्ण वर्ष (१८७७-१८७९) इसी रायपुर शहर में बिताये थे। तब वे यहाँ नरेन्द्र के नाम से रहते थे। छत्तीसगढ़ की धरती से ही नरेन्द्र में संस्कारों की नींव पड़ी। यहाँ बैठे सभी बच्चों तथा युवाओं से मैं कहना चाहूँगा कि वे स्वामी विवेकानन्द के जीवन से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को गढ़ें और सँवारें।

"शायद हममें आज भी कहीं-न-कहीं कोई कमी रह गयी है। यद्यपि हमारे युवा सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ते दिखाई दे रहे हैं, तो भी वे देश के स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों से प्रेरणा लेने में पीछे दिखाई दे रहे हैं। आज हमारा देश स्वामीजी के सन्देशों के प्रकाश में अपनी समस्याओं का समाधान खोज सकता है और सारा विश्व उनके सन्देशों के आधार पर शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द केवल चालीस वर्ष से कम आयु तक जीवित रहे, परन्तु अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के द्वारा सम्पूर्ण जगत् को और विशेषकर भारत को उन्होंने जो कुछ दिया वह अनेकानेक शताब्दियों तक मानवता की धरोहर बना रहेगा। भारत के भविष्य के लिये आज उनके विचारों और आदर्शों की प्रासंगिकता अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। धन्यवाद ! जय हिन्द !"

२९ मार्च को पत्रकारिता विश्वविद्यालय, रायपुर के कुलपति श्री सच्चिदानन्द जोशी, प्रोफेसर मुकुन्द हम्बर्डे, मध्यप्रदेश शासन प्रवेश एवं शुल्क विनियामक समिति के अध्यक्ष एवं पूर्व-कुलपति बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल के डॉ. हर्षवर्धन तिवारी, श्री रमेश नैयर और राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के कुलाधिपति डॉ. के. के. चक्रवर्ती ने अपने महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये।

संगोष्ठी का समापन शाम ५ बजे हुआ, जिसकी अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. एस. के. पाण्डेय ने की। विशिष्टि अतिथि थे डॉ. के. के. चक्रवर्ती और डॉ. हर्षवर्धन तिवारी। सभा के मुख्य अतिथि स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने कहा – "स्वामी विवेकानन्द जी ने कन्याकुमारी में ध्यान किया तथा भारत के भूत-भविष्य का दर्शन किया। उन्होंने कहा था कि 'मैं घनीभूत भारत हूँ।' भारत-तत्त्व भौगोलिक सीमा से प्रभावित नहीं होता। भारत-तत्त्व अनुभूति पर निर्भर करता है। यह आत्मनिरीक्षण और आध्यात्मिकता का देश है। भारतीय आत्मा की अनुभूति ने विवेकानन्द को विवेकानन्द बनाया। भारत का प्राण है आध्यात्मिकता।

"मनुष्य की दिव्यता, सूर्य, और शरीर में केवल मात्रा का अन्तर है। ब्रह्माण्ड की एकता, जीवन की एकता (चींटी से मनुष्य तक) सभी एक हैं। बिना व्यक्तित्व के जीवन-तत्त्व ब्रह्म हैं। स्वामीजी की दृष्टि अभेद थी। इस सम्बन्ध में निग्रो की घटना है।

"विवेकानन्द की खोज का मूल केन्द्र मनुष्य और उसका मूल स्वरूप था। साधना-प्रणाली से उपलब्ध अनुभूति तत्त्व ही भारत-तत्त्व है। वह विश्व के कण-कण और व्यक्ति के रंध्र-रंध्र में व्याप्त है। वहाँ कोई भेद नहीं है। स्वामीजी की देहात्म बुद्धि रहित होने की घटना है, जिसमें वे देहबोध करने के लिये बार-बार दर्पण में अपना चेहरा देख रहे हैं। यह भारत-तत्त्व है। अपने भीतर से भेद-भाव मिटाने के लिये उन्होंने भंगी की जूठी चीलम पी थी। अनुभूति मन के अतीत होती है और संस्कार मन में होते हैं। पढ़ने से दिशा मिलती है, लेकिन सत्य की अनुभूति नहीं होती। इन्हीं शब्दों में विवेकानन्द का दर्शन है, यही भारत-तत्त्व है।

कार्यक्रम के संयोजक विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव श्री ओमप्रकाश वर्मा जी ने कहा कि सभा में प्रतिभागियों द्वारा पढ़े गये निबन्ध-आलेखों की एक स्मारिका भी निकाली जायेगी। ❑